सम्पादकीय

सरकार और रिजर्व बैंक में तकरार के निहितार्थ

26 अक्टूबर को मुम्बई में ए डी सर्राफ स्मृति व्याख्यान में रिजर्व बैंक के डिप्टी गवर्नर विरल आचार्य ने सरकार और रिजर्व बैंक के बीच पैदा हुई तनातनी के बारे में अपनी राय व्यक्त करते हुए कहा कि "जो सरकार अपने केन्द्रीय बैंक का सम्मान नहीं करती वह देर-सबेर वित्तीय बाजार के गुस्से का सामना करती है, अर्थतन्त्र में आग लगाती है और इस बात पर पछताती है कि उसने एक महत्त्वपूर्ण नियामक संस्था को कमजोर किया।" यह राय अकेले विरल आचार्य की नहीं थी क्योंकि अपने उसी भाषण में उन्होंने अपने गवर्नर उर्जित पटेल का इस बात के लिए आभार जताया था कि इस व्याख्यान में केन्द्रीय बैंक की स्वाधीनता की पुनर्व्याख्या किये जाने का सुझाव उन्होंने ही दिया था। आचार्य ने सरकारी हस्तक्षेप के तीन क्षेत्रों का हवाला दिया। पहला, रिजर्व बैंक के मुद्रा भण्डार से एक बड़े हिस्से को सरकारी खजाने में डालने की माँग, दूसरा, सार्वजानिक क्षेत्र के बैंकों पर रिजर्व बैंक की निगरानी और नियंत्रण को ढीला करना और तीसरा, भुगतान बैंकों को विनियमित करने जैसी रिजर्व बैंक की नियामक जिम्मेदारियों को सीमित करना। उन्होंने कहा कि इससे पहले कि बाजार की शक्तियाँ इन अतिक्रमणों की कीमत चुकाने पर मजबूर करें, सरकार को अपने कदम वापस खींच लेने चाहिए।

रिजर्व बैंक की शीघ्र सुधारात्मक कार्रवाई (पीसीए फ्रेमवर्क) को ढीला करवाने के पीछे सरकार का तात्कालिक मकसद अर्थव्यवस्था को उधारी और नगदी संकुचन से निजात दिलाना तथा छोटे और मध्यम उद्यमों को बैंक कर्ज मुहैय्या करवाना है जो खुद मोदी सरकार के गलत फैसलों का नतीजा हैं। सरकार ने पहली बार स्वीकार किया कि नोटबन्दी और जीएसटी की मार से छोटे और मझोले कारोबारी बुरी तरह प्रभावित हुए हैं, जबकि कर्ज डूबने और घोटालों की चपेट में आकर पहले से ही संकटग्रस्त बैंक अब रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित शर्तों के मुताबिक नये कर्ज देने की स्थिति में नहीं हैं। जाहिर है कि रिजर्व बैंक के साथ सरकार के टकराव का कारण वित्तीय क्षेत्र और अर्थव्यवस्था का गहराता संकट है जिसे छुपाने के लिए आज भी सरकार आँकड़ों की बाजीगरी करने से बाज नहीं आ रही है।

इस विवाद पर रिजर्व बैंक के पूर्व बोर्ड मेम्बर वाई एच मालेगाम का कहना है कि आरबीआई एक्ट में सरकार को रिजर्व बैंक का आरक्षित धन देने का प्रावधान नहीं है, फिर भी मोदी सरकार रिजर्व बैंक के खजाने में जो 9.6 लाख करोड़ रुपये है, उसका एक तिहाई धन सरकारी खजाने में डालने की माँग कर रही है। कानून के मुताबिक रिजर्व बैंक हर साल अपने मुनाफे का एक हिस्सा सरकार को लाभांश के रूप में भुगतान करता है और बाकी बचा हुआ अधिशेष आरक्षित कोष में डाल देता है। इसलिए पिछले साल का अधिशेष सरकार को देना हो तो इसके लिए रिजर्व बैंक कानून 1934 को बदलना पड़ेगा।

सरकार की माँगों के आगे न झुकने का एक कारण यह भी है कि रिजर्व बैंक के लिए पर्याप्त आरक्षित कोष रखना और भारतीय मुद्रा की मजबूती को बरकरार रखना अपरिहार्य है। पहले से ही डॉलर की तुलना में रुपये की बुरी हालत को देखते हुए रिजर्व बैंक की यह चिन्ता और बढ़ जाती है। मालेगाम ने कहा कि कानूनी प्रावधान के विरुद्ध जाकर भी अगर सरकार रिजर्व बैंक पर दबाव डाल रही है कि अपने अधिशेष का एक बड़ा हिस्सा सरकार को सौंप दे तो यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि देश की अर्थव्यवस्था और केन्द्र सरकार एक गम्भीर वित्तीय संकट का सामना कर रही है।

27 नवम्बर को एम वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता वाली संसदीय समिति के सवालों का जवाब देते हुए रिजर्व बैंक गवर्नर उर्जित पटेल ने एक बार फिर केन्द्रीय बैंक की स्वायत्तता बरकरार रखने पर जोर दिया। उन्होंने अपना जवाब 10-15 दिन में विस्तार से देने का आश्वासन दिया, साथ ही चार मुद्दों को रेखांकित किया। पहला, जमाकर्ताओं के हितों को लेकर स्वायत्तता से कोई समझौता नहीं हो सकता। दूसरा, मौद्रिक नीतियाँ पूरी तरह से रिजर्व बैंक के दायरे में होनी चाहिए। तीसरा, रिजर्व बैंक का आरक्षित कोष बनाये रखने से सम्बन्धित बेसेल 3 पैमाने का पालन करना अत्यन्त जरूरी है क्योंकि देश इसके लिए अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ग्रुप 20 देशों के प्रति वचनबद्ध है। बेसेल 3 पैमाना विश्वस्तर पर स्वीकृत एक स्वेच्छिक ढाँचा है को बैंक में पर्याप्त नगदी रखकर बाजार के जोखिम से बचाने के लिए बनाया गया है। यह 2007-08 के अमरीकी वित्तीय संकट के बाद उत्पन्न विनाशकारी परिस्थितियों के मद्देनजर ग्रुप 20 के देशों की आपसी सहमति से तय किया गया पैमाना है।

ऊपर-ऊपर देखने पर सरकार और रिजर्व बैंक के बीच का यह विवाद और गतिरोध ऐसा आभास कराता है, जैसे इन दोनों संस्थाओं के बीच का संघर्ष अलग-अलग हितों और उद्देश्यों की वजह से है, जबकि सच्चाई ऐसी नहीं है। सरकार और रिजर्व बैंक दोनों ही नवउदारवादी नीतियों को आगे बढ़ाने के लिए कटिबद्ध हैं, लेकिन दोनों की प्रकृति और चरित्र की अपनी विशिष्टताएँ हैं। सरकार को चुनाव जीतना होता है, उसके लिए कुछ ऐसे काम करने होते हैं जो नवउदारवादी नीतियों से टकराते हैं। भले ही कोई सरकार खुद उन नीतियों के प्रति कितनी भी समर्पित और वचनबद्ध क्यों न हो, उसे कुछ राजनीतिक दबाव भी झेलने होते हैं। वोट लेने के लिए सिर्फ जुमलेबाजी और लफ्फाजी से ही काम नहीं चलता, यह भी दिखाना होता है कि अच्छे दिन भले ही नहीं आये हों लेकिन बुरे दिन भी उतने बुरे नहीं हैं। रिजर्व बैंक के सामने ऐसी कोई मजबूरी नहीं होती है। उसे नवउदारवादी वित्तीय और मौद्रिक मानदण्डों पर कायम रहना जरूरी होता है। साथ ही रिजर्व बैंक की जिस स्वाधीनता और स्वायत्तता को लेकर इतनी हाय-तौबा मचायी जा रही है, वह भी भ्रामक है, क्योंकि रिजर्व बैंक के गवर्नर सहित पूरे संचालक मंडल की नियुक्ति सरकार ही करती है। और जब वैश्वीकरण के दौर में देश की आर्थिक नीतियों में किसी भी तबदीली के लिए सरकार खुद ही स्वाधीन और स्वायत्त नहीं है, तो उसके काम-काज में सहयोग करने वाली रिजर्व बैंक जैसी कोई संस्था कितनी स्वाधीन और स्वायत्त हो सकती है। सरकार और रिजर्व बैंक दोनों को वित्तीय और मौद्रिक अफरातफरी की चिन्ता है, लेकिन दोनों को अपनी पूर्वनिर्धारित भूमिकाएँ निभानी हैं। निश्चय ही, इस विवाद के कुछ गम्भीर निहितार्थ हैं जो नवउदारवादी नीतियों की असफलता तथा नोटबन्दी और जीएसटी जैसे मोदी सरकार के विनाशकारी फैसलों का नतीजा हैं। सरकार का उतावलापन और बेचैनी अर्थव्यवस्था के गम्भीर संकट की और संकेत करते हैं। सरकार और रिजर्व बैंक दोनों के लिए स्थिति "एक तरफ कुआँ, दूसरी तरफ खाई" वाली हो गयी है। हालाँकि दोनों ही अर्थव्यवस्था को दलदल से निकालने के लिए अपनी-अपनी जिम्मेदारी के अनुसार भरपूर जोर लगा रहे हैं।

दरअसल 1991 में आर्थिक सुधारों को लागू किये जाने के बाद भारतीय शासक वर्ग की जितनी भी पार्टियाँ सरकार में आयीं, सबने विदेशी पूँजी के साथ गठजोड़ और साम्राज्यवादी संस्थाओं द्वारा थोपी गयी नीतियों को बढ़-चढ़कर लागू किया। 2014 में सरकार बनाने के बाद भाजपा ने भी अपनी पूर्ववर्ती कांग्रेस की नीतियों को ही बढ़-चढ़कर लागू किया। नवउदारवादी दौर में भारत में विदेशी पूँजी आने और जाने का सिलसिला जितनी तेजी से बढ़ा, उसी रफ्तार से साम्राज्यवादी वित्तीय संस्थाओं ने एक नियामक संस्था के रूप में रिजर्व बैंक को सरकार से सापेक्षिक स्वाधीनता की वकालत की। सरकारों को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं थी, क्योंकि नवउदारवादी नीतियों और साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की अधीनता स्वीकार करने के बाद से वे खुद भी उनके ऊपर आश्रित और उनकी हिफाजत के लिए वचनबद्ध हो चुकी थीं। इसलिए विश्व बैंक, मुद्राकोष और अन्य अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा निर्धारित मौद्रिक और वित्तीय नीतियों को लागू करने के लिए जिम्मेदार, रिजर्व बैंक को सरकारों से स्वायत्त बनाये रखने में उनको भी कोई आपत्ति नहीं रही। जाहिर है कि यह स्वायत्तता वैश्विक पूँजी के नीतिगत दायरों के भीतर ही हो सकती है जिनसे अलग हटकर एक भी फैसला लेने के लिए रिजर्व बैंक स्वाधीन नहीं है।

गौरतलब है कि इस वैश्वीकृत दुनिया में भारत जैसे विकासशील देशों की सरकारों के आगे अपनी अर्थव्यवस्था को चाक-चौबन्द रखने और देशी-विदेशी पूँजी के हमलों के खिलाफ जनता के गुस्से को शान्त करने की कुछ मजबूरियाँ होती हैं, जबकि साम्राज्यवादी पूँजी को सिर्फ अपने मुनाफे और हिफाजत की चिन्ता होती है। इसी के मद्देनजर नवउदारवादी नीतियों के नये दौर में मुद्रास्फीति पर नियंत्रण रखना सरकारों की जिम्मेदारी होती है और दुनियाभर में इस पर नजर रखने का काम केन्द्रीय बैंकों को दिया गया है। मुद्रास्फीति बढ़ने का अर्थ है विदेशी पूँजी का मुनाफा कम होना, जो विदेशी पूँजी निवेशकों के लिए अस्वीकार है। इसलिए अपने देश में आर्थिक विनाश और जनता की बदहाली की कीमत पर भी सरकारें मुद्रास्फीति को नियंत्रित रखती हैं। बजट घाटा कम करना भी मुद्रास्फीति को नियंत्रित रखने के लिए जरूरी है। चूँकि सरकार ने खुद ही इन कठोर अनुशासनों को स्वीकार किया है, इसलिए उसका दायित्व है कि इसे लागू करे, चाहे अपने देश की अर्थव्यवस्था और व्यापक जनता पर इसका कितना ही घातक प्रभाव क्यों न हो।

1991 में नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से ही कुछ छोटे-मोटे अपवादों को छोड़कर सरकार और रिजर्व बैंक के बीच अब तक नवउदारवादी सुर-ताल की संगत सामान्य रूप से चलती रही। फिर ऐसा क्या हो गया कि वह जुगलबन्दी बेसुरी हो गयी? दरअसल आज देश की अर्थव्यवस्था जिस आर्थिक संकट में फँसी हुई है उसे देखते हुए सम्बन्धों में दरार पड़ना लाजिमी था। मोदी के सरकार में आते ही खुदरा व्यापार, प्रतिरक्षा और वित्तीय क्षेत्र सहित तमाम क्षेत्रों में 100 प्रतिशत तक विदेशी निवेश की छूट देने और पूँजी निवेश आकर्षित करने के लिए दुनिया भर में किये गये विदेशी दौरों के बावजूद विदेशी पूँजी निवेश में अपेक्षित बढ़ोत्तरी नहीं हुई। उलटे आज विदेशी पूँजी बाहर जा रही है क्योंकि दुनिया भर में ब्याज दर बढ़ रही है। पूँजीपतियों द्वारा बैंको के कर्जे लेकर विदेश भागने और देश में रहते हुए भी कर्ज न लौटाने की वजह से बैंकिंग क्षेत्र की हालत खराब है। रिजर्व बैंक के मुताबिक

2012 से 2017 के बीच ऐसे 8670 मामले सामने आये हैं जिनमें बैंकों के 61,260 करोड़ रुपये पूँजीपतियों ने मार लिये। इसमें इस साल के आँकड़े शामिल नहीं हैं, जिनमें नवम्बर महीने में ही ऐसे 21,000 करोड़ रुपये का फ्रॉड सामने आया था। हर तिमाही रिपोर्ट में बैंकों के घाटे की रिपोर्ट आती हैं। बैंकिंग वित्तीय कम्पनियों की हालत तो और भी खस्ता है जिसका सबसे बड़ा प्रमाण इन्फ्रास्ट्रक्चर लीजिंग एंड फाइनान्शियल सर्विसेज का डूबना है। इसके चलते नगदी और उधारी का जो संकट पैदा हुआ, उसके चलते छोटे और मझोले कारोबार को नये कर्ज देना मुश्किल है। अब तक सरकार नोटबन्दी के दुष्परिणामों पर पर्दा डालती रही लेकिन अब खुलकर स्वीकार रही है कि नोटबन्दी और जीएसटी की मार से पहले से खस्ता हाल छोटे-मझोले उद्यमों को नये कर्ज देना बेहद जरूरी है। बड़े बैंक तो पहले ही नये कर्ज देने की स्थिति में नहीं थे, अब वित्तीय संस्थाओं की मौजूदा हालत को देखते हुए प्रधानमंत्री द्वारा 24 घण्टे के भीतर कर्ज की बरसात के वादे का क्या होगा? कुल मिलाकर बैंकों और गैरबैंकिंग वित्तीय संस्थानों को बचाने, बजट घाटा कम करने, नये निवेश को आकर्षित करने, अर्थव्यवस्था में नगदी उढ़ेलने और संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था को तत्काल राहत देने के लिए सरकार ने रिजर्व बैंक का दरवाजा खटखटाया है।

सरकार ने रिजर्व बैंक से माँग की कि वह अपने 9.59 लाख करोड़ आरक्षित कोष में से 3.6 लाख करोड़ सरकार की तिजोरी में डाले, ताकि सरकार इस चुनावी वर्ष का बजट घाटा कम करे, अपने चहेतों को ज्यादा सरकारी सहायता दे और वित्तीय संस्थाओं को दुबारा खड़ा करे। रिजर्व बैंक एक्ट 1934 और मौद्रिक नीति कमिटी का मामला बताते हुए उसने इसे टाल दिया। सरकार ने घाटे में चल रहे बैंकों पर रिजर्व बैंक द्वारा लगाया गया नियंत्रण कम करने की माँग की, ताकि वे नये कर्जे दे सकें। इस मामले में रिजर्व बैंक ने एक हद तक छूट दी लेकिन पहले से ही कर्ज डुबाकर संकटग्रस्त बैंकों को एक हद से ज्यादा नियंत्रण मुक्त करने के लिए तैयार नहीं है। बैंकिंग क्षेत्र से अर्थव्यवस्था में नगदी के प्रवाह को बढ़ाना सरकार की तात्कालिक जरूरत है, लेकिन रिजर्व बैंक अपने नियामक दिशानिर्देश में एक हद से ज्यादा ढील देने को तैयार नहीं।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना जरूरी है कि बैंकिंग क्षेत्र की दुर्दशा के लिए रिजर्व बैंक भी कम जिम्मेदार नहीं है। उसने तमाम वित्तीय और मौद्रिक अनियमितताओं और मनमानी शर्तों पर हद से ज्यादा कर्ज बाँटने से बैंकों को रोकने के लिए कुछ नहीं किया। चार-पाँच सालों में कर्ज डूबने की घटनाएँ लगातार बढ़ती गयीं, जिस पर कोई लगाम नहीं लगायी गयी और आखिर में जब पानी सर से ऊपर जाने लगा तो रिजर्व बैंक स्वायत्तता की आड़ में कठोर कदम उठाने, तत्काल सुधार कार्रवाई (पीसीए) और बेसेल ढाँचे की बात करने लगा। इन कठोर कदमों से नवउदारवादी ढाँचे के अनुरूप मौद्रिक मापदण्ड पर कायम रह कर भले ही साम्राज्यवादी संस्थाओं से अच्छे अंक हासिल हो जायें, लेकिन इससे उधारी और नगदी की कमी जो पहले ही विकट स्थिति में है, वह और बढ़ेगी। इसका सीधा असर देश की अर्थव्यवस्था और खासतौर से नोटबन्दी और जीएसटी की मार झेल रहे छोटे और मझोले कारोबार पर होगा। रिजर्व बैंक की तत्काल सुधार कार्रवाई से सरकार की तत्काल सुधार कार्रवाई खटाई में पड़ जायेगी। विवाद और तनातनी की वजह यही है।

सवाल यह है कि अगर रिजर्व बैंक अपनी शर्तों में थोड़ी ढील दे दे तो क्या संकट हल हो जायेगा? इसको एक उदाहरण से समझ सकते हैं। सरकार और रिजर्व बैंक के बीच 19 नवम्बर को हुई बैठक में बैंकों को कर्ज देने के लिए खुद की जरूरी पूँजी में 0.625 प्रतिशत की छूट मिल गयी। इसका मतलब यह कि 100 रुपये कर्ज देने के लिए पहले बैंकों के पास 9 रुपये अपनी पूँजी जरुरी थी, लेकिन अब 8.375 रुपये पूँजी की ही जरूरत होगी। इस छोटी सी रियायत से सरकार लगभग एक लाख करोड़ पूँजी बैंक में डालने से बच गयी और बैंक भी लगभग तीन लाख करोड़ नये कर्ज बाँटने के अधिकारी हो गये। लेकिन उधारी और नगदी संकुचन की दशा को देखते हुए बैंकों के लिए यह राहत कुछ खास नहीं है। राष्ट्रीय आवास बैंक जो भवन निर्माण के लिए कर्ज देनेवाली वित्तीय संस्थाओं का वित्तपोषण करता है, उसका मानना है कि इस शर्त में ढील दिये जाने से उसे 30,000 करोड़ नये कर्ज देने कि इजाजत मिली है, जबकि उसे तत्काल 50,000 करोड़ कर्ज देने की जरूरत है। उसने कर्ज के लिए आवश्यक पूँजी सीमा और घटाने की माँग की है। यह तो सिर्फ एक बैंक की समस्या है, यही हाल पूरे वित्तीय क्षेत्र की है। कुल मिलाकर इस छूट से समस्या थोड़ी टल जरूर गयी, हल होना तो बहुत बड़ी बात है।

समस्या कितनी गहरी है, इसे समझने के लिए अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की हकीकत को जानना जरूरी है। इसी अंक में देश की आर्थिक स्थिति का जायजा लेनेवाले तीन लेख प्रकाशित किये गये हैं, जिनकी रोशनी में हम अर्थव्यवस्था की मौजूदा हालत और मोदी सरकार की बदहवासी का सबब समझ सकते हैं। यह संकट नवउदारवादी नीतियों का ही नहीं, बल्कि मोदी सरकार के अदूरदशी फैसलों का भी परिणाम है।

आर्थिक संकट के भवर में फँसता भारत

--मोहित पुंडीर

अक्टूबर 2018 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विश्व अर्थव्यवस्थाओं से सम्बन्धित 'ग्लोबल फाइनेन्सियल स्टेबिलिटी रिपोर्ट' जारी की। यह रिपोर्ट ऐसे समय में आयी है जब 2008 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी को दस साल पूरे हो चुके हैं और इससे उबरने की बढ़-चढ़कर घोषणाएँ हो रही हैं। लेकिन इन घोषणाओं के उलट, यह रिपोर्ट एक बड़े संकट की ओर इशारा कर रही है। रिपोर्ट के अनुसार विश्व के 'उभरते बाजार' जिनमें भारत, चीन, ब्राजील, रूस आदि शामिल हैं, वहाँ खतरे की घण्टी बजने लगी है। इन देशों से बड़े निवेशक बाहर जा रहे हैं। पिछले एक साल में ही निवेशक इन देशों से लगभग 3 लाख करोड़ की पूँजी बाहर निकाल कर चले गये और आने वाले दिनों में रफ्तार के ओर तेज होने की पूरी सम्भावनाएँ हैं। भारत इन उभरते बाजारों में से एक बड़ा बाजार है, जिसकी अर्थव्यवस्था पर इसका बुरा असर साफ नजर आने लगा है।

पिछले कुछ समय से अमरीका में ब्याज दर बढ़ रही है। अधिक मुनाफे की तलाश में बड़े निवेशक अपनी पूँजी दूसरे देशों से निकाल कर अमरीका में लगा रहे हैं। इस साल अप्रैल से अक्टूबर तक निवेशक 50 हजार करोड़ रुपये की पूँजी भारतीय बाजार से निकाल कर जा चुके हैं, जिससे डॉलर की माँग में तेजी से बढ़ोतरी हुई है और नतीजन रुपया कमजोर हुआ है। पिछले 6 महीनों में रुपया डॉलर के मुकाबले 8 से 9 प्रतिशत तक गिरा है। इसका सबसे बड़ा असर भारत में ब्याज दर बढ़ने के रूप में आया। विनिर्माण क्षेत्र में इसका गहरा प्रभाव देखने को मिल रहा है क्योंकि ब्याज दर बढ़ने से कुल खर्चे में बढ़ोतरी होती है और मुनाफे में गिरावट आती है। 2017-18 की आखिरी तिमाही में 4,237 सूचीबद्ध कम्पनियों का मुनाफा 80 प्रतिशत तक घट गया, जिसमें ज्यादा घाटा फाइनेंस सेक्टर में हुआ है। लगातार घाटे में चलने के कारण उनमें नये निवेश कम हो रहे हैं। सीएमआईई (सेंटर फॉर मोनिटरिंग इंडियन इकोनॉमी) एक प्रतिष्ठित संस्था है जो रोजगार और अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित सर्वे करती है। इसके सर्वेक्षण के अनुसार अप्रैल-जून 2018 की तिमाही में पिछले तिमाही के मुकाबले निवेश 38 प्रतिशत तक घट गया और इस पूरे निवेश में 68 प्रतिशत केवल विमानन उद्योग का है, अगर इसे निकाल दें तो यह 14 साल का सबसे न्यूनतम निवेश होगा। 2014 के मुकाबले इस साल 'ऊर्जा क्षेत्र' और 'विनिर्माण क्षेत्र' में हुए निवेश में लगभग 30 प्रतिशत की कमी आयी है। निवेश का इस तरह घटना भारतीय अर्थव्यवस्था के संकटग्रस्त होने का स्पष्ट प्रमाण है।

रुपये की कीमत घटने का काफी बुरा प्रभाव आयातित उत्पादों के दामों में बढ़ोतरी के रूप में हो रहा है। इसके चलते व्यापार घाटा लगातार बढ़ता जा रहा है। आरबीआई के मुताबिक पिछले साल के मुकाबले इस साल व्यापार घाटा 4 अरब डॉलर ज्यादा हुआ है। विदेशों से व्यापार डॉलर में होता है और अगर डॉलर रुपये के मुकाबले महँगा होगा तो सभी चीजों के दाम बढ़ जायेंगी। इसमें मुख्य रूप से कच्चा तेल शामिल है जिसके दाम बढ़ने से पेट्रोल-डीजल के दामों में बढ़ोतरी हो रही है, और उसके कारण बाकी सभी चीजों के दाम भी तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। कच्चा तेल खरीदने के लिए भारत को डॉलर की जरूरत पड़ेगी जिससे रुपया और ज्यादा कमजोर होगा। इसका प्रभाव कृषि और अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ रहा है। खेती की लागत बढ़ने से कृषि संकट और भी गहरा होता जा रहा है। भारत लगभग 80 प्रतिशत चिकित्सा उपकरण दूसरे देशों से आयात करता है। अस्पताल में पूरे खर्चे का 30-40 प्रतिशत खर्चा इन्हीं उपकरणों का होता है। रुपये के कमजोर होने से ये उपकरण महँगे हो गये हैं जिससे अस्पताल के बिलों में सीधे 25-30 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यह साफ तौर से समझा जा सकता है कि रुपये का कमजोर होना भारत की अर्थव्यवस्था के लिए बेहद बुरा संकेत है। एक तो इससे घरेलू महँगाई बढ़ गयी, दूसरा आयात महँगा हो गया और पहले से सुस्त पड़े उद्योग और संकटग्रस्त हो गये।

नये रोजगारों का सृजन होना किसी देश की अर्थव्यवस्था के जीवित रहने की जरूरी शर्त है। भारत की अर्थव्यवस्था का सही आकलन करने के लिए नये रोजगारों की जाँच-पड़ताल करना जरूरी है। विश्व बैंक के आँकड़े भारत में रोजगार सृजन की सारी हकीकत सामने लाते हैं। इनके अनुसार पिछले 10 सालों में विकास दर औसतन 6.4 प्रतिशत की दर से बढ़ी है, पर नौकरियों में बढ़ोतरी 0.5 प्रतिशत से भी कम है। याद रहे कि इस दौरान जनसंख्या दर 1.6 प्रतिशत तक रही है। सेन्टर फॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकोनॉमी (सीएमआईई) की जून की रिपोर्ट के अनुसार पिछले 4 साल में 0.13 प्रतिशत की दर से नौकरियाँ घटी हैं। यह प्रकिया नोटबन्दी और जीएसटी के बाद तेजी से बढ़ी। भारत में 75-80 प्रतिशत लोग असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं, जीएसटी के बाद इन छोटी कम्पनियों पर टैक्स की मार बहुत ज्यादा

पड़ी, जिसके चलते बहुत तेजी से लघु और मध्यम उद्योग संकटग्रस्त हुए। तमिलनाडू में ही 2017-18 में 50,000 छोटी कम्पनियाँ बन्द हो गयीं और लाखों मजदूर बेरोजगार हो गये। सूरत में रोजाना 4 करोड़ मीटर कपड़े का उत्पादन घटकर आधा हो गया जिसके चलते कपड़ा उद्योग में लगे हजारों मजदूर बर्बाद हो गये। 2018 में बेरोजगारी दर 7.1 प्रतिशत तक पहुँच गयी। 1980 में अगर 1 करोड़ रुपये का निवेश होता था तो 90 लोगों को रोजगार मिलता था पर अब यह केवल 8 तक रह गया है। बेरोजगारी पर आयी अजिम प्रेमजी की रिपोर्ट के अनुसार भारत में काम करने वाले 84 प्रतिशत पुरुषों और 90 प्रतिशत से ज्यादा महिलाओं की आय 10 हजार से कम है। यह साफ दिखाता है कि एक तरफ तो रोजगार तेजी से घट रहा है, दूसरी तरफ रोजगार में शामिल लोगों की मजदूरी न बढ़ने के कारण उनकी स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। मौजूदा वैश्विक मन्दी के चलते जैसे-जैसे उद्योगों का मुनाफा कम होता जा रहा है, उद्योग तबाह हो रहे हैं। इसका अंजाम घटते रोजगार के रूप में ही देखने को मिल रहा है।

रोजगार संकट के साथ ही वित्तीय क्षेत्र का दिवालियापन भी भारतीय अर्थव्यवस्था के संकटग्रस्त होने का प्रमाण दे रहा है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण इन्फ्रास्ट्रक्चर लीजिंग एंड फाइनेन्सियल सर्विसेज (आईएल एण्ड एफएस) में आया संकट है जिसे भारत की आजादी के बाद का सबसे बड़ा वित्तीय संकट बताया जा रहा है और इसे भारत का लेहमन संकट तक कहा जा रहा है। आईएल एण्ड एफएस एक वित्तीय संस्था है जो सरकारी और गैर-सरकारी ढाँचागत परियोजनाओं के लिए कर्ज देने और उनकी निगरानी रखने का काम करती है। यह संस्था अपने शेयर जारी करती है जिसमें आम आदमी से लेकर एलआईसी और एसबीआई जैसी बड़ी संस्थाएँ अपना पैसा लगाती हैं। 7 हजार करोड़ से कम की सम्पत्ति होने के बावजूद इसने 1 लाख करोड़ रुपये का कर्ज लिया। यह कर्ज मनरेगा परियोजना के पूरे बजट से भी ज्यादा है। लेकिन जिन परियोजनाओं में इसने पैसे लगाये वे मन्दी के चलते पूरी नहीं हो पायीं और दूसरों को कर्ज देने वाली यह वित्तीय संस्था आज खुद 91 हजार करोड़ रुपये की कर्जदार हो गयी है। इसकी 82 सहायक कम्पनियों में भी यही संकट देखने को मिल रहा है, जिसमें केवल 'तमिलनाडु पॉवर कम्पनी लिमिटेड' 382 करोड़ रुपये के नुकसान में है। एलआईसी और एसबीआई की इसमें बड़ी हिस्सेदारी है। अगर यह वित्तीय संस्था डूबती है तो लाखों लोगों की पेंशन और जमा पूँजी का डूबना तय है।

इस संकट की शुरुआत होते ही एलआईसी के शेयर 10 प्रतिशत तक गिर गये। 2014 के मुकाबले इस कम्पनी के शेयर की कीमत 70 प्रतिशत से भी ज्यादा घट गयी है, मतलब अगर तब किसी ने इसमें 100 रुपये लगाये थे तो आज उनकी कीमत घट कर 30 रुपये रह गयी है। इसके डूबने से अनेक सरकारी प्रोजेक्ट खत्म हो जायेंगी और उनमें लगी बड़ी पूँजी डूब जायेगी और पूरे बाजार में हाहाकार मच जायेगा। इसके दिवालिया घोषित होने के कुछ ही देर में सेंसेक्स में अभूतपूर्व 1800 अंकों की गिरावट दर्ज की गयी। सरकार इस पर कब्जा करके इस संकट को कुछ देर के लिए ही टाल सकती है। यह संकट वित्तीय संस्थानों के खोखला होने की ओर संकेत करता है, जिन पर मौजूदा अर्थव्यवस्था टिकी हुई है। यह ऐसा ज्वालामुखी है जो कभी भी फट सकता है और अपने साथ पूरी अर्थव्यवस्था को तबाह कर सकता है।

अर्थव्यवस्था की तस्वीर बताने के लिए अक्सर सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी का सहारा लिया जाता है। यह जोर-शोर से प्रचारित किया जा रहा है कि भारत की जीडीपी का आकार फ्रांस से भी बड़ा हो गया है और 2019 तक यह ब्रिटेन को भी पीछे छोड़ देगा। लेकिन इसके बावजूद भारत का विश्व भूख सूचकांक में 100वाँ स्थान है। क्या जीडीपी अर्थव्यवस्था की असली तस्वीर दिखाता है? यह बताया गया कि अक्टूबर 2017 से अप्रैल 2018 के बीच भारत में औद्योगिक विकास बहुत तेजी से हुआ, यह 7.5 प्रतिशत की दर से लगातार बढ़ रहा है और अर्थव्यवस्था का संकट खत्म हो गया है। लेकिन यह जानना बेहद दिलचस्प है कि इसमें कितनी सच्चाई है। औद्योगिक विकास की गणना इंडेक्स ऑफ इंडस्ट्रियल प्रोडक्शन(आईआईपी), से की जाती है जिसे उद्योगों के उत्पादन में हुई बढ़त को जोड़कर बनाया जाता है। लेकिन यह रिपोर्ट मनमाने और गलत तथ्यों के आधार पर बनायी गयी है। इस पूरे औद्योगिक विकास दर का आधार केवल डाईजेस्टिव एंजाइम और एन्टासिड यानी बदहजमी की दवाई में हुई बढ़ोतरी को ही मान लिया गया। पूरे औद्योगिक विकास दर में 61 प्रतिशत योगदान केवल इसी एक दवाई का रहा, बल्कि इस दवा कम्पनी की संख्या सारे उद्योगों में 0.002 प्रतिशत से भी कम है। जीडीपी गणना में भी आईआईपी को शामिल किया जाता है। यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि कैसे किसी एक उद्योग में हुए थोड़े से विकास को पूरी अर्थव्यवस्था के विकास के रूप में पेश किया जाता है। इससे अलग अगर रिजर्व बैंक के सर्वे पर ध्यान दें, तो भारत का निर्यात सितम्बर महीने में 2.2 प्रतिशत तक घट गया और अगर इसमें से पेट्रोलियम उत्पादों को हटा दें तो यह गिरावट 6 प्रतिशत से भी अधिक है। इसका मतलब है कि उत्पादन घटा है बढ़ा नहीं। तेल की बिक्री में भी 14 साल की रिकॉर्ड गिरावट दर्ज की गयी है। 2018 की पहली तिमाही में उद्योगों में छाई सुस्ती के संकेत साफ नजर आ रहे हैं, उनका उत्पादन वास्तविक क्षमता से बहुत नीचे चला गया है।

एक तरफ तो अर्थव्यवस्था में तेजी दिखाने के लिए झूठे और मनमाने तथ्यों का इस्तेमाल किया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर रिजर्व बैंक जैसी स्वायत्त संस्थाओं को भी निशाना बनाना शुरू कर दिया गया है। रिजर्व बैंक जरूरत पड़ने पर देश की अर्थव्यवस्था को स्थिर रखने के लिए अपने पास कुछ निश्चित पूँजी रखती है। अब भारत सरकार की नजर इसी खजाने पर है। सरकार सेक्शन-7 का इस्तेमाल

कर जबरदस्ती रिजर्व बैंक से 3 लाख करोड़ रुपये निकालना चाहती है जिसका इस्तेमाल वह लघु और मध्यम उद्योग को कर्ज देने के लिए करेगी। सरकार के इस कदम का विरोध रिजर्व बैंक समेत सभी बैंकों ने किया है। रिजर्व बैंक के डिप्टी गवर्नर विरल आचार्य ने कहा कि 'केन्द्रीय बैंक की स्वायत्तता से छेड़छाड़ की गयी तो अर्थव्यवस्था जल उठेगी'। याद रहे सरकार पेट्रोल और डीजल पर टैक्स लगाकर पहले ही जनता से कई लाख करोड़ रुपये लूट चुकी है। वैश्विक मन्दी के दौर में जब उत्पादन में लगातार गिरावट आ रही है तब सीधे जनता की जेब पर डाका डालकर बड़े पूँजीपतियों के मुनाफे की हवस को शान्त किया जा रहा है, यह काम कभी जीएसटी के नाम पर तो कभी नोटबन्दी के नाम पर हो रहा है। एक तरफ हजारों लघु उद्योग बर्बाद हो गये हैं जिसके चलते करोड़ों लोग बेरोजगार हुए, वहीं दूसरी ओर 20 बड़ी कम्पनियों का मुनाफा 10 प्रतिशत से भी ज्यादा रफ्तार से बढ़ रहा है। बड़े अरबपति बैंकों का 11 लाख करोड़ रुपये गबन कर चुके हैं जिसकी मार भी आम मेहनतकश जनता को ही झेलनी पड़ रही है।

भारत की अर्थव्यवस्था में आया संकट वैश्विक संकट का ही विस्तार है। इस संकट का समाधान सरकार बदलने या नीम-हकीमी इलाज से नहीं होगा। इस संकट को थोड़े दिनों के लिए टाला तो जा सकता है पर खत्म नहीं किया जा सकता। मुनाफे पर आधारित यह व्यवस्था आज दुनिया को मन्दी के अलावा कुछ भी सकारात्मक देने में असमर्थ है। इस व्यवस्था का जड़ से खात्मा ही मन्दी का उपचार है।

विश्वव्यापी महामन्दी के 10 साल

--अनुराग

आज लेहमन ब्रदर्स की दुकान बन्द हुए 10 साल हो गये हैं। 2008 में अमरीका का गृह निर्माण बुलबुला फूट जाने से बाजार धड़ाम से गिर गया था। इस हादसे में 30 लाख अमरीकी बेरोजगार हो गये थे और 50 लाख अमरीकियों ने अपने घर खो दिये थे। बड़े बैंकों के पास खुद के काम करने के लिए डॉलर की कमी हो गयी थी और दूसरों को कर्ज देने के लिए पैसा नहीं बचा था। बैंकों का पूँजी भण्डार गायब हो गया था। वित्तीय गतिविधियाँ लगभग शून्य की तरफ पहुँच गयी थीं। कुल मिलाकर कहें तो अमरीकी अर्थव्यवस्था दिवालिया हो चुकी थी। अमरीका से निकली मन्दी के इस ज्वार से दुनिया भर की अर्थव्यवस्थाएँ संकट में आ गयी थीं। दुनिया भर के शेयर बाजार भहराकर गिर गये, जिसके चलते 2008 में दुनिया भर की अर्थव्यवस्थाओं से अरबों-खरबों की राशि गायब हो गयी थी। इन सबको बीते 10 साल हो गये हैं।

विश्व बैंक समूह और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे अमरीकी वर्चस्व वाले अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों द्वारा उनके खड़ा करने के लिए कर्ज दिया गया और उसमें भी भारी छूट दी गयी। 2001 के बाद मनमाने तरीके से अर्थव्यवस्था का गुब्बारा फुलाया गया जो 2008 में फूटकर सबके सामने आ गया।

वर्ष 2008 की वैश्विक महामन्दी से निपटने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये, लेकिन अभी तक सारे उपाय व्यर्थ ही साबित हुए हैं। दुनिया के शीर्ष देशों की स्थिति के बारे में बात करें तो ज्यादातर अर्थव्यवस्थाएँ 2008 की महामन्दी के संकट से अभी नहीं उबर पायी हैं।

अमरीका आज भी तीन तिकड़म के सहारे अपनी वैतरणी पार लगाना चाहता है। अमरीका आर्थिक मजबूती कुछ और नहीं बल्कि महामन्दी के समय फेडरल रिजर्व द्वारा बैलेंस शीट का (ज्यादा डॉलर छाप कर) 2008 से 2016 तक 800 अरब डॉलर से 4.5 खरब डॉलर तक कर लिया जाना है। जबकि 2008 में फेडरल रिजर्व के पास बैलेंस शीट कुल जीडीपी का 7 प्रतिशत (1 खरब डॉलर) से कम थी।

एक दशक पहले चीन को औद्योगिक विकास का इंजन कहा जाता था और उबरते देशों की कतार में सबसे अग्रिम पंक्ति में था। लेकिन आज चीन की अर्थव्यवस्था भी संकटग्रस्त है। इससे निपटने के लिए चीन उदारवादी राजकोषीय नीतियों को लागू कर रहा है और छोटे-मझोले उद्योगों को उबारने के लिए क्रेडिट नीतियों (कूपन काटने वाली व्यवस्था) को अपना रहा है। यूरोप आज भी महामन्दी की भरपाई में ही लगा हुआ है।

बाजारों में निवेश और नये उत्पादों को खरीदने के लिए आवश्यक पूँजी का प्रवाह अभी भी पर्याप्त नहीं है और न ही 2008 की विश्वव्यापी महामन्दी के बाद बेरोजगार हुए लोगों को ही रोजगार दिया जा सका है। एक अनुमान के मुताबिक वर्ष 2018 में पूरी दुनिया में 1.4 अरब से ज्यादा लोग बेरोजगार हैं।

सोवियत संघ के टूट जाने के बाद दुनिया भर के देशों ने अमरीकी नवउदारवादी नीतियाँ लागू की हैं। उदारीकरण वैश्वीकरण के जरिये पूँजी वैश्विक रूप से (लगभग) सभी देशों से नत्थी हो गयी। दुनिया भर की पूँजी को मिलाकर वैश्विक पूँजी का निर्माण किया गया। विकसित देशों ने अपने अतिरिक्त उत्पादन और अतिरिक्त मुनाफे की समस्या को वैश्विक बन जाने दिया। इसके साथ ही विकसित देशों ने अपने अतिरिक्त उत्पादन और अतिरिक्त मुनाफे की समस्या (मन्दी) को हल करने के लिए विकासशील देशों को अपना अगुआ मान लिया।

भारत वैश्विक पूँजी से 1994 में डंकल प्रस्ताव आधारित विश्वव्यापार संगठन से नत्थी हुआ। स्वावलम्बी विकास का रास्ता छोड़कर भारत ने अमरीकी नवउदरवादी नीतियों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। व्यापक जन-विरोधों और देश-काल की विपरीत परिस्थितियों के चलते भारत में डंकल प्रस्ताव को खुलकर लागू नहीं किया जा सका। वर्ष 2008 तक भारतीय अर्थव्यवस्था वैश्विक अर्थव्यवस्था से जुड़ी तो थी लेकिन अभी भी अर्थव्यवस्था के ज्यादातर क्षेत्र विश्व व्यापार संगठन के प्रस्ताव के प्रभाव से अछूते रह गये थे। इसके चलते 2008 में आयी वैश्विक मन्दी का भारतीय अर्थव्यवस्था पर बहुत व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन फिर भी विकास का सबसे बड़ा पैमाना शेयर बाजार जनवरी से अक्टूबर तक 21,206 से गिरकर 8,701 पर आ गया था। आनन-फानन में रिजर्व बैंक को रेपो रेट में 3.5 फीसदी और रिवर्स रेपो रेट में 2 फीसदी की कमी करके बैंकिंग प्रणाली में 3,00,000 करोड़ की नकदी उड़ेलनी पड़ी थी। औद्योगिक विकास दर 7 फीसदी से घटकर 1.3 फीसदी तक आ गयी थी। कई कम्पनियों में तालाबन्दी हो गयी थी। कपड़ा और हीरे जवाहरात उद्योग के 20 लाख मजदूर बेरोजगार हो गये थे। 'द इकोनॉमिक टाइम्स' के मुताबिक आईटी और बीपीओ में काम करने वाले 23 लाख कर्मचारी बेरोजगार हो गये थे।

भारत के मौजूदा हालात को देखें तो पाते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था गम्भीर और असाध्य बीमारी से पीड़ित है। जिसका एक-एक अंग सड़ांध की तरफ बढ़ रहा है। सरकार एक सेक्टर का इलाज करती है तो दूसरे सेक्टर का कोढ़ फूटने लगता है। पिछले कुछ सालों से भारतीय अर्थव्यवस्था के ज्यादातर क्षेत्रों का रोग सतह पर आने लगा है-- भारत 2015 से ही अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में अपने को सबसे तेज उभरती अर्थव्यवस्था कहता आ रहा है। जबकि भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) 2015-16 में 7.9 फीसदी था जो 2017-18 में गिरकर करीब 6.6 फीसदी पर आ गया है।

एशियाई मुद्राओं में भारतीय रुपये की हालत सबसे खराब है। वैश्विक स्तर पर बढ़ते पेट्रोलियम के दाम, अर्थव्यवस्था से भारी मात्रा में पूँजी निकासी (अमरीकी संरक्षणवाद), भारतीय निर्यात का गिरना और चालू खाता घाटा (1.9 फीसदी तक) बढ़ने के चलते रुपये में बड़ी गिरावट हुई। एक डॉलर 73.34 रुपये का हो गया।

इस वित्तीय वर्ष में भारत का व्यापार घाटा कई वर्षों के निम्नतम स्तर पर जा पहुँचा। वित्त वर्ष 2018 में विदेशी संस्थागत निवेश (एफआईआई) पूरी तरह से नगण्य रहा है। सरकार की लाख कोशिशों के बावजूद निजी निवेश की हालत खस्ताहाल रही है। सार्वजनिक निवेश की भी हालत नदारद है।

10 अक्टूबर 2018 को सेंसेक्स 1,000 अंक गिर गया जिसके चलते भारतीय अर्थव्यवस्था से 5 मिनट में ही 4 लाख करोड़ रुपये डूबे गये। सेंसेक्स का उतार-चढ़ाव एक ऐसा जुआ है जिसमें अरबों-खरबों रुपया एक ही झटके में रसातल में चला जाता है। ऐसी स्थिति में सटोरिया पूँजी को किसी देश के विकास का पैमाना मानना बेहद खतरनाक है।

भारतीय बैंक बुरी तरह से घाटे की चपेट में हैं। "मार्च 2018 को समाप्त तिमाही में सार्वजनिक क्षेत्र के 21 बैंकों का कुल घाटा 62,681.27 करोड़ रुपये था"। "जुलाई-सितम्बर तिमाही में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का कुल घाटा पिछले साल की तुलना में साढ़े तीन गुना बढ़कर 14,716.20 करोड़ रुपये तक पहुँच गया है"। इसका बड़ा कारण सरकार के चहेते पूँजीपतियों का देश से पैसा लेकर भाग जाना और गैर निष्पादित सम्पत्ति (एनपीए) का लगातार बढ़ते जाना है।

सरकार ने नोटबन्दी और जीएसटी लागू करके भारतीय अर्थव्यवस्था के लघु और मध्यम उद्योग से पैसा खींचकर बड़े पूँजीपतियों (इजारेदारी) की तरफ मोड़ दिया। दूरगामी तौर पर देखें तो यह भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए बहुत ही बड़ा झटका साबित हुआ। छोटे-मझोले उद्योगों तबाह हो गये हैं। इससे बड़ी संख्या में कामगार आबादी बेरोजगारी के कगार पर खड़ी हो गयी है।

वर्ष 2008 के बाद से 2012-13 तक भारतीय अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्र मन्दी के भवर से निकलने लगे थे। फिर भी ज्यादातर क्षेत्र पूँजी की कमी से जूझ रहे थे। इसके बावजूद सरकारों ने पूँजी का केन्द्रीकरण लगातार तेज किया है, जिससे छोटी अर्थव्यवस्थाएँ तबाही के कगार पर पहुँच गयीं। जिसने पूरी अर्थव्यवस्था के लिए गम्भीर खतरे पैदा कर दिया। 2008 के एक दशक बाद तेजी से किये गये नवदारवादी सुधारों की वजह से आज भारतीय अर्थव्यवस्था बहुत ही डाँवाडोल स्थिति में है और मन्दी के भवर में डूबती जा रही है।

दूसरी तरफ, पिछले कुछ सालों में भारतीय अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे तबाह होती गयी है फिर भी सरकारों ने पूँजी का केन्द्रीकरण करके इजारेदारी को और बढ़ाया

है। भारत के एक फीसदी अमीर लोगों के पास कुल पूँजी का संकेन्द्रण 49 फीसदी (वर्ष 2014) से 73 प्रतिशत तक (वर्ष 2017) पहुँच गया है।

यह सब उदारीकरण और अनियमित आर्थिक गतिविधियों के चलते है। उदारीकरण के बाद 2008 में अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्र जो वैश्विक पूँजी से नत्थी नहीं हो पाये थे वे तत्कालीन रूप से 2008 की मन्दी से बचे रह गये थे। लेकिन 2008 के महामन्दी के बाद से पूँजीपतियों और कारोबारियों का उद्धार करने के लिए पिछले एक दशक में सरकार ने उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण को तेजी से अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में लागू किया है।

भारत की आर्थिक गतिविधियों के वैश्विक व्यवस्थाओं से नत्थी हो जाने का मतलब यह है कि वैश्विक बाजार में होने वाली उथल-पुथल से हम अछूते नहीं रह गये हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था पर गौर किया जाये तो 2008 और 2018 के परिदृश्य कुछ अलग नहीं हैं-- महँगाई अपने चरम पर है। लेन-देन की गतिविधियों को पूरा करने के लिए बाजार में पर्याप्त पैसा नहीं है। छोटे-मझोले उद्योग नकदी की कमी से जूझ रहे हैं। विकास का फर्जी पैमाना शेयर सूचकांक भी अधर में लटक रहा है। कृषि में लगी आबादी आत्महत्या करने को मजबूर है। रोजगार सृजन दर लगभग शून्य है, उलटे नौकरियों में लगे लोग अपनी नौकरियाँ खोते जा रहे हैं। अर्थव्यवस्था को चलाने वाले बड़े पहिये थमने लगे हैं जिसके चलते आर्थिक गतिविधियाँ धीरे-धीरे करके दम तोड़ रही हैं।

देशी पूँजी और वैश्विक पूँजी की लूट से भारतीय मेहनतकश वर्ग की स्थिति नारकीय हो गयी है। अमीरी-गरीबी के बीच की खाई चौड़ी हुई है। 1991 की नयी आर्थिक नीतियों के तहत जनता के कल्याण के लिए सरकार की तरफ से दी जाने वाली सभी आर्थिक सहायताएँ (सब्सिडी) एक-एक करके खत्म की जा रही हैं।

इसके साथ ही तात्कालिक वैश्विक परिघटनाएँ भी भारतीय अर्थव्यवस्था पर फौरी और दूरगामी असर डाल रही हैं। आज सभी अर्थव्यवस्थाएँ अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संरक्षणवाद की नीतियों को बढ़-चढ़कर लागू कर रही हैं-- अमरीका पिछले 2 सालों से संरक्षणवादी नीतियों को अपना रहा है जिसके तहत अमरीकी फेडरल रिजर्व ने ब्याज दरें बढ़ाकर दुनिया भर से डॉलर का प्रवाह अपनी तरफ वापस मोड़ा है। साथ ही अमरीका ने चीन सहित अन्य देशों (जर्मनी, जापान, ईरान, यूरोपीयन संघ) के साथ व्यापार युद्ध शुरू किया है जिससे वैश्विक स्तर पर मुद्रा के प्रवाह, वैश्विक व्यापार और उत्पादन में भारी कमी आ सकती है।

औद्योगीकरण के बाद से ही पूँजीवादी अर्थतंत्र में मन्दी का जन्म हुआ। इससे पहले की व्यवस्थाओं में व्यापार और उत्पादन ऊपर-नीचे तो होता था लेकिन आर्थिक मन्दियाँ नहीं आती थीं और न ही इतने बड़े पैमाने पर लोग तबाह और बर्बाद ही होते थे। इस व्यवस्था के चालकों के पास इसका कोई कारगर इलाज नहीं है। आर्थिक मन्दी जो पहले 10 से 15 साल के अन्तराल पर आती थी। अब इसका अन्तराल छोटा और चिरन्तन हो गया है अर्थशास्त्री इसे ठहराव या ठहरावयुक्त मन्दी के रूप में परिभाषित करते हैं।

मन्दी का यह संकट हर बार पिछले से बड़ी विपत्तियों को जन्म देता है। मन्दी की समस्या को सरकारें और पार्टियाँ बदलकर हल नहीं किया जा सकता। सरकारें और सत्तासीन पार्टियाँ तो हर पाँच साल में बदलती रही हैं। लेकिन पिछले 10 साल से वैश्विक मन्दी का संकट दिनों-दिन विकट होता गया। ढाँचागत संकट होने के चलते इस समस्या का समाधान सिर्फ ढा ँचागत बदलाव से ही सम्भव है।

आज की भाषा

कुछ कम्पनियाँ बहुराष्ट्रीय इसलिए कही जाती हैं क्योंकि वे एक साथ बहुत सारे देशों में धन्धा करती हैं। हालाँकि, इनका मालिकाना उन थोड़े से देशों के पास है, जो दुनिया की दौलत, राजनीतिक, सैनिक और सांस्कृतिक ताकत, विज्ञान की जानकारी और ऊँची तकनीक अपनी मुट्ठी में रखा करते हैं। आजकल ऐसी दस बड़ी कम्पनियों की कमायी सौ देशों की कुल आमदनी से भी ज्यादा है।

'विशेषज्ञों' की भाषा में विकासशील उन देशों का नाम है, जो दरअसल दूसरों के विकास की बलि चढ़ा दिये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र के आँकड़ें बताते हैं कि गैर-बराबर कारोबारी और पैसे के लेन-देन के रास्ते ये देश विकसित देशों को जितना धन भेजते हैं, वह इन्हें मिलनेवाली किसी भी बाहरी मदद से दस गुना ज्यादा हुआ करती है।

बाहरी या विदेशी मदद वह छोटा-सा हर्जाना है, जो अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में बुराई अच्छाई को दिया करती है। यह बाँटी भी इस तरीके से जाती है कि इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ ज्यादातर मामलों में अन्याय पर मुहर ही लगाती है। मिसाल के लिए, 1995 में दुनिया के 75 प्रतिशत एड्स मरीज अश्वेत अफ्रीका[66] में थे, जबकि इस बीमारी से लड़ने के लिए दिये गये अन्तरराष्ट्रीय चन्दे का सिर्फ 3 फीसदी उसके हिस्से आया था।

-एदुआर्दो गालेआनो, आग की यादें

आम चुनाव से पहले देश के सामने वास्तविक समस्या क्या है?

--आनन्द प्रकाश

देश में 2019 में होने वाले आम चुनाव की तैयारी जोरों पर है। चार राज्यों में हो रहे विधान सभा चुनावों को 'सेमी फाइनल' कहा जा रहा है। आम चुनाव से पहले वही सब कुछ दोहाराया जा रहा है जो दशकों से दोहराया जाता रहा है। फर्क इतना ही है कि इस बार यह खेल कुछ ज्यादा ही भद्दे ढंग से, अतिरेक के साथ और शर्म-हया की सारी सीमाओं को तोड़ कर खेला जा रहा है।

भाजपा नरेन्द्र मोदी को पुनः जिताने के लिए राम मन्दिर के मुद्दे पर खून खराबा को फिर से तैयार दिख रही है। भाजपा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने एकबार फिर स्पष्ट कर दिया है कि उसके लक्ष्य (हिन्दू राष्ट्र) के आगे संविधान, कानून और सर्वोच्च न्यायालय कोई मायने नहीं रखते। अयोध्या मसले पर सर्वोच्च न्यायालय के रवैये से खफा होकर संघ "निर्णायक लड़ाई" छेड़ने का ऐलान कर चुका है। अयोध्या में आयोजित "धर्म संसद" के माध्यम से संघ ने बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना को याद दिलाते हुए संकेत दे दिया है कि "राम जन्मभूमि मुद्दे पर नौजवान किसी भी हद तक जा सकते हैं"।

इधर विपक्षी पार्टियों के पास मोदी शासन की असफलता गिनाने के अलावा और कोई मुद्दा नहीं रह गया है। इस मामले में यह चुनाव सबसे अनोखा होगा जब जनता की नजरों में सरकार और विपक्ष की साख इतनी नीचे चली गयी है कि उनके किसी वायदे को आम जनता गम्भीरता से ले सके ऐसी स्थिति अब नहीं रही। यह भी गौर तलब है कि पिछले साढ़े चार साल से विकास-विकास का रट लगाने वाली भाजपा ने चुनाव से ऐन पहले मन्दिर मुद्दे पर हिन्दू वोटों के ध्रुवीकरण करने पर उतर आयी और मुख्य विपक्षी कांग्रेस ने विकास के फेंके हुए झण्डे को उठाने के बजाय "नरम हिन्दुत्व" का झण्डा उठा लिया है।

वर्ष 1990 में जब देश घोर आर्थिक संकट में फँसा था, तब कांग्रेस पार्टी और मनमोहन सिंह ने देश की जनता को 'विकास' का सपना दिखाया था। उसके बाद के दो दशकों के तथाकथित विकास ने जनता की समस्याओं को चरम तक पहुँचा दिया। आर्थिक असमानता को इस हद तक बढ़ा दिया गया कि यह दुनियाभर में चर्चा का विषय बन गयी। लोगों ने भी देखा कि पार्टियों के "विकास" के नारे का अर्थ मुट्ठी भर अमीरों का विकास ही है। कांग्रेस नीत यूपीए की नवउदारवादी नीतियाँ लागू करने वाले लगातार दो कार्यकालों ने कांग्रेस और वामपन्थी पार्टियों को जब आम जनता के आगे पूरी तरह नंगा कर दिया तो भाजपा ने उसी 'विकास' के झण्डे को मुस्लिम विरोध के गाढ़े रंग में डूबोकर खूब ऊँचा लहराया। संघ और कारपोरेट मीडिया ने भी प्रचार की बमवर्षा कर देश के माहौल को पूरी तरह ध्रुविकृत कर दिया जिससे मोदी की 2014 के आम चुनाव में भारी जीत सुनिश्चित हो गयी। लेकिन मोदी सरकार के साढ़े चार साल के शासन के बाद और 2019 के चुनाव से पहले भाजपा और विपक्ष द्वारा "विकास" के मुद्दे पर अगर चुप्पी साधी जा रही है तो क्या इसे महज चुनावी तिकड़म माना जाय या "विकास" का मुद्दा इनके गले का काँटा बन चुका है?

मोदी सरकार के साढ़े चार साल पर अगर एक सरसरी नजर दौड़ायी जाय तो देश की गम्भीर समस्याओं की एक झलक मिल जायेगी। भ्रष्टाचार दूर करने, कालाधन वापस लाने और 2 करोड़ रोजगार पैदा करने जैसे चुनावी वायदे को पूरा करने की बात तो दूर, इस सरकार ने ढोल बाजे के साथ जनहित के नाम पर जो भी नीतियाँ, जैसे नोटबन्दी, जीएसटी, फसल बीमा योजना या स्वास्थ्य बीमा योजना आदि लागू की, वे सभी जनता को और अधिक गरीब बनाने वाली और देशी-विदेशी कारपोरेट घरानों, विदेशी पूँजी और कुख्यात बीमा कम्पनियों को फायदा पहुँचाने वाली नीतियाँ थी। इसने केवल अरबपतियों की संख्या बढ़ाने और गरीब को और गरीब बनाने का काम किया। क्रेडिट स्वीस बैंक की रिपोर्ट के अनुसार भारत की 1 प्रतिशत आबादी की सम्पत्ति जो 2014 में देश की कुल सम्पत्ति की 49 प्रतिशत थी, 2018 में बढ़कर 51.5 प्रतिशत हो गयी। जबकि शेष 99 प्रतिशत की सम्पत्ति 51 से घटकर 48.5 प्रतिशत रह गयी।

असल में, मोदी सरकार की नीतियाँ भारत में 1991 से जारी उदारीकरण-वैश्वीकरण की नवउदारवादी नीतियों की ही निरंतरता थी। इन्हीं नीतियों पर चलकर जब अटल बिहारी बाजपेयी की सरकार और मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली दो सरकारें जनता की नजरों में बुरी तरह बदनाम हो गयी तब इन कुख्यात नीतियों को बचाने के लिए कारपोरेट घरानों और उनकी मीडिया संस्थानों ने मध्यम वर्ग की मदद से संघ के एक ऐसे प्रचारक को देश की कमान सौंपी जिसने पूँजीपतियों के पक्ष में पहले ही गुजरात में एक क्रूर शासन चलाने में उनकी वाहवाही लूटी जा थी।

देश का नौजवान, मजदूर-किसान और आम जनता 2014 के पहले ही कांग्रेसी

हुकूमत में तबाह हो चुकी थी, उन्हें और अधिक जहर पिलाना इतना आसान नहीं था। इसलिए मोदी की महानायक वाली छवि बनायी गयी और उसके शासन के पहले ही दिन से विरोधियों के प्रति हमलावर रूख अख्तियार किया गया। "राष्ट्रवाद", "गोरक्षा" और "अर्बन नक्सल" जैसे विभाजनकारी एजेन्डों को लगातार इसी उद्देश्य से समाज पर थोपकर एक हिंसक अराजकता और घृणा का माहौल तैयार किया गया। लेकिन सब कुछ करने के बावजूद नरेन्द्र मोदी के सरपरस्तों- कारपोरेट घरानों, देशी-विदेशी पूँजीपतियों का संकट टला नहीं।

भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों का अगर जायजा लिया जाय तो समझने में देर नहीं लगेगी कि यह गम्भीर संकट का शिकार है। इसमें सबसे प्रमुख है बैंकों का संकट। खुद बैंकों के आँकड़ों के मुताबिक वे जितना उधार बाँट रहे हैं उसका एक बड़ा हिस्सा, कहीं-कहीं 11 प्रतिशत तक, बैंकों को लौट नहीं रहा है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बैंक ही इसकी धुरी होती हैं। इसका बीमार होना पूरी व्यवस्था पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा कर देता है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक हो या निजी क्षेत्र के, आज सभी गले तक संकट में डूबे हुए हैं, कोई कम और कोई ज्यादा।

प्रधानमंत्री द्वारा ढोल-नगाड़ों के साथ शुरू किये गये "मेक इन इंडिया" का कुल परिणाम भी चंद करोड़पतियों को पैदा करने तक सीमित रहा। अर्थव्यवस्था पर यह वैसा कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं छोड़ पाया जैसा कि दावा किया गया था। छोटे और मध्यम दर्जे के उद्योग (एमएसएमई-माइक्रो, स्मॉल एण्ड मीडियम एन्टरप्राईजेज) क्षेत्र भी बहुत गहरे संकट में है। अब तक इस क्षेत्र की हजारों फैक्ट्रियाँ बन्द हो चुकी हैं। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि एमएसएमई देश का बहुत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। इसका अर्थव्यवस्था के मैन्यूफैक्चरिंग क्षेत्र में 45 प्रतिशत, निर्यात में 40 प्रतिशत और रोजगार देने में 69 प्रतिशत हिस्सा है। उधर इन्फ्रास्ट्रक्चर लीजिंग एण्ड फाइनैन्स सर्विसेज कम्पनी का अपने कर्जदाताओं के पैसे लौटाने में हाथ खड़ी कर देने से इन्फ्रास्ट्रक्चर क्षेत्र में भी पसरा व्यापक संकट जग जाहिर हो गया। सरकार ने संकट के संक्रमण को रोकने के लिए इसका अधिग्रहित कर लिया, अन्यथा यह अपने साथ दर्जनों कम्पनियों और वित्तीय संस्थानों को भी साथ ले डूबती।

लेकिन आज सबसे ज्वलंत समस्या कृषि क्षेत्र की है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक देश में 82 करोड़ लोग किसी न किसी रूप से आज भी खेती पर निर्भर हैं। नवउदारवादी नीतियों ने कृषि की पुरानी व्यवस्था यानी नेहरू मॉडल को पूरी तरह से ध्वस्त कर दिया है जिससे यह क्षेत्र कारपोरेट घरानों और बिल्डरों के लिए लूट का अखाड़ा बन गया है। सरकार पिछले 27 साल से जारी नीतियों के साथ पूरी तरह खड़ी है और किसानों के लिए घड़ियाली आँसू बहाने वाली विपक्षी पार्टियाँ भी उन्हीं नवउदारवादी नीतियों के साथ है। इसलिए वर्तमान दायरे में इस समस्या कोई समाधान सम्भव नहीं है।

सिर्फ कृषि क्षेत्र की बात नहीं, पिछले 27 सालों से नवउदारवादी नीतियों पर चलते हुए यह देश आज उस मुकाम पर पहुँच गया है जहाँ यह व्यवस्था अगर ठीक से काम कर रही है तो महज अमीरों और खाते-पीते लोगों के लिए ही, 100 करोड़ जनता के लिए व्यवस्था काम करना बन्द कर चुकी है। इसलिए आम जनता के बीच हाहाकार मचा हुए है। खेती, मजदूरी और रोजगार के अलावा शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे आम जनता के लिए महत्त्वपूर्ण सभी क्षेत्र आज पंगु बना हुआ है। आज जो भी पूँजी निवेश हो रहा है उसका लाभ 1 प्रतिशत की जेब में जा रहा है। सरकारी योजनाओं से भी यही तबका मालामाल हो रहा है। पी साईनाथ ने आकलन किया है कि विभिन्न सरकारों ने अपनी बजट घोषणाओं में पूँजीपतियों को वर्ष 2005-6 से लेकर 2015-16 तक 42 लाख 8 हजार 3 सौ सैंतालिस रूपये की राजस्व छूट दी है। यह नवउदारवादी ढाँचे का ही तकाजा है कि भारत समेत दुनिया की 1 प्रतिशत आबादी हर साल 200 अरब डालर की टैक्स चोरी करती है और इसी आबादी के कारण विकासशील देशों को हर साल 170 अरब डालर के राजस्व का नुकसान होता है।

लेकिन क्या भारत जैसे विकासशील देशों के आम लोगों को नवउदारवाद इससे बेहतर व्यवस्था दे सकता है?

नवउदारवाद पूँजीवाद का सबसे प्रतिक्रियावादी और घातक रूप है। यह मुट्ठीभर अमीर लोगों के लिए लूट का तंत्र होता है जबकि आम जनता के लिए भयानक शोषण और दमन की व्यवस्था है। इसका आविर्भाव 1980 में अमरीका और ब्रिटेन में उस परिस्थिति में हुआ था जिस समय अपनी सारी सकारात्मकता खो चुके पूँजीवाद को इस धरती से विदा हो जाना चाहिए था लेकिन दुनिया में समाजवादी धारा के विलोप हो जाने से इसको हटाकर इसकी जगह लेने वाली शक्ति मजबूत नहीं थी। विश्व पूँजीवाद के इस नये अवतार ने अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष (आईएमएफ) और विश्व बैंक की अगुवाई में वैश्वीकरण के नाम पर आक्रामक हथकन्डे अपनाते हुए दुनिया के ज्यादातर देशों को वैश्वीकरण उदारीकरण की आड़ में नवउदारवाद का हिस्सा बना लिया।

भारत का बड़ा पूँजीपति वर्ग जो 1991 में गहरे संकट में फँसा हुआ था, उसने अधिक मुनाफे के अपने संकीर्ण स्वार्थ के कारण नवउदारवाद को अपना लिया। यहाँ के शासक वर्ग को एक उम्मीद थी कि विकसित देशों की अर्थव्यवस्था से नत्थी होकर मुनाफे के संकट का समधान हो सकता है। लेकिन अमरीका में 2008 में लेहमन ब्रदर्स के धराशायी हो जाने के बाद यह पक्का हो गया कि विश्व पूँजीवाद का सूरज अब डूब चुका है। वह आज भी मन्दी की गहरी खाई में गिरा हुआ है और संकटग्रस्त पूँजी की हिफाजत के लिए दुनियाभर में दक्षिणपन्थी और फासीवादी ताकतें सत्ता तक पहुँच रही है।

दरअसल, 1991 में लागू की गयी नवउदारवादी नीतियाँ देश पर कभी भी सकारात्मक प्रभाव नहीं छोड़ पायी। दिल्ली

की कुर्सी पर बैठने वाले हर शासक ने अपने निहित स्वार्थ के लिए जनता से उसकी वास्तविकता को छुपाया और नवउदारवादी नीतियों को रामबाण के रूप में प्रस्तुत किया। आज ढाई दशक बीत जाने के बाद वही नीतियाँ जड़ जमाकर अर्थव्यवस्था को अपने नागपाश में बुरी तरह जकड़ चुकी है। इसी कारण अर्थव्यवस्था आज एक गम्भीर और स्थायी ठहराव का शिकार हो चुकी है। यह व्यवस्था कायम रहते हुए इस ठहराव से आज न धनी वर्ग इससे निकल सकता है और न ही आम जनता। यही वह अन्तरविरोध है जिसका हमारा देश आज सामना कर रहा है।

आज जनता के एक बड़े हिस्से की पहलकदमी के बिना नवउदारवाद से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसके सबसे बड़े प्रवर्तक, विदेशी वित्त पूँजी के पास पर्याप्त हथकन्डे हैं जिससे वह उसके चंगुल से छूटने की कोशिश करने वाले देशों में अव्यवस्था फैला सके। लातिन अमरीकी देश अर्जेंटिना इसका सबसे ताजा उदाहरण है। अब से 15 साल पहले वहाँ की सरकार ने आईएमएफ पर अपनी निर्भरता को यह कहकर खत्म कर दिया था कि यह संस्था अर्जेन्टिना को अपने हित की नीति विकसित करने नहीं देती। चूँकि सरकार ने अन्तरराष्ट्रीय पूँजी के चक्रव्यूह के अन्दर ही राहत पाने की कोशिश की थी इसलिए एक समय के बाद अर्थव्यवस्था में ठहराव आना लाजिमी था। अभी हाल ही में जब वहाँ की मुद्रा का 100 प्रतिशत अवमूल्यन करना पड़ा और मुद्रस्फिति 50 प्रतिशत तक पहुँच गयी तो सरकार को फिर से आईएमएफ की शरण में जाना पड़ा और नवउदारवादी नीतियों को एकबार फिर कड़ाई से लागू करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

हमारा देश भी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी नवउदारवादी नीतियों के चंगुल में पूरी तरह फँसा हुआ है। हमारे शेयर बाजार पर विदेशी वित्तीय कम्पनियों का कब्जा है। सेंसेक्स को धूल में मिलाकर, रूपये के विनिमय दर में उथलपुथल लाकर और रेटिंग एजेन्सियों के माध्यम से यहाँ की कम्पनियों के लिए क्रेडिट बाजार में सूखा लाकर वे यहाँ की वर्तमान व्यवस्था को नाक रगड़ने पर मजबूर कर सकती हैं। यही वह सीमा है जिसे दक्षिण और वाम समेत यहाँ की मुख्यधारा की सभी राजनीतिक पार्टियाँ स्वीकार कर चुकी हैं।

लेकिन भारत की 100 करोड़ जनता अगर वास्तविकता से वाकिफ हो जाय तो वह उस सीमा को स्वीकार नहीं कर सकती और उसके अन्दर एक वैकल्पिक व्यवस्था तलाशने की जरूरत पैदा होगी। उनको समझने में देर नहीं लगेगी कि नवउदारवाद अगर जारी रहता है तो वह पूँजीपतियों और खाते-पीते लोगों के लूटतंत्र को ही कायम रखेगा, जिससे इनकी समृद्धि बढ़ती रहेगी, वहीं मजदूरों, किसानों और मध्यम वर्ग के बड़े हिस्से की समस्याओं का हल होना तो दूर, उन्हें अधिकाधिक दमन और निरंकुशता के अधीन जीने को बाध्य होना पड़ेगा।

भारत में आज ऐसी ढेरों प्रगतिशील शक्तियाँ मौजूद हैं जो नवदारवाद का विरोध तो करती हैं लेकिन इसके विकल्प के मुद्दे पर वे ढुलमुल हैं। इसमें सबसे बड़ी समस्या आज प्रगतिशील आन्दोलन में सामाजिक जनवादी विचारों का प्रभाव है। दुनिया से समाजवादी धारा के अवसान और हाल के दिनों में कई लातिन अमरीकी देशों में आम चुनाव द्वारा वामपन्थी सरकारों का आना और उनके द्वारा कई जनपरक कामों को अन्जाम देने की घटनाओं ने इस पिटी हुई विचारधारा को फिर से पैर जमाने का मौका दे दिया है। सामाजिक जनवादी विचारों को सबसे स्पष्टता के साथ सीपीएम पार्टी रखती है। इनकी नवउदारवाद की आलोचना का अर्थ अर्थव्यवस्था के नेहरू मॉडल को वापस लाना है। इसलिए ऐसी राजनीति संसद की चौहद्दी में ही दम घुट कर रह जाती है। जिस कृषि व्यवस्था को यहाँ के पूँजीपति वर्ग ने अपने हित में पैदा किया और नवउदारवादी दौर में उसी ने उस व्यवस्था को कूड़े के ढेर में फेंक दिया और जिसके फिर से बनने की अब कोई सम्भावना भी नहीं बची है, इसके बावजूद आज सीपीएम उसी के सहारे किसानों को सरकारी मदद से कृषि व्यवस्था को जिलाये रखने का झूठा सपना दिखा रही है। अपने वर्गीय हित के कारण यह पार्टी इस बात को स्वीकार नहीं कर पाती कि जिस विशिष्ट वैश्विक परिवेश में नेहरू मॉडल पैदा हुआ था दुनिया अब फिर से वहाँ नहीं लौट सकती।

वेनेजुएला और बोलिविया जैसे लातिन अमरीकी देशों का मॉडल भी भारत के लिए किसी काम का नहीं है। क्योंकि एक तो वहाँ कोई भी वामपन्थी सरकार अब तक अपना पैर जमा नहीं पायी। दूसरा, सम्पत्ति का बड़ा हिस्सा अभी तक 1 प्रतिशत लोगों के कब्जे में है और वे देश भारत के मुकाबले बेहद छोटे होने के साथ-साथ इतने गरीब भी नहीं हैं। उनमें से सबसे गरीब देश बोलिविया का प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद 3394 डालर है जबकि भारत का 1940 डालर है। भारत के भूखे-नंगे लोगों की संख्या वहाँ की कुल आबादी से कई गुना ज्यादा है। इसके अलावा विश्व पूँजी और ताकतवर देशों के लिए भारत का महत्त्व आज कहीं ज्यादा है। उनके निवेश और संचय के संकट को कम करने के लिए भारत सबसे अनुकूल देश बन सकता है। भारत का धनी तबका भी उन्हीं की नाव पर सवार है। इसलिए उनके हितों को नुकसान पहुँचाने वाले किसी भी मॉडल को वे संसद द्वारा पास नहीं होने देंगे। केवल भारत की 100 करोड़ जनता के पास ही वह ताकत है जिससे वह अपने लिए एक वैकल्पिक रास्ते का निर्माण कर सके।

इसलिए आज देश के सामने यही चुनौती है कि कैसे उसकी 100 करोड़ जनता इस वर्तमान नवउदारवादी व्यवस्था की हर कारगुजारियों को समझने में सक्षम हो सके, यह समझ सके कि नवउदारवाद ने उसके लिए भविष्य का कैसा खाका तैयार कर रखा है और जान सके कि एक नया वैकल्पिक आर्थिक ढाँचा ही उसकी वास्तविक समस्याओं का हल कर सकता है।

राफेल घोटाला : आखिर सच क्या है?

--राजेश चौधरी

राफेल को लेकर पक्ष-विपक्ष में बयान-बाजी जारी है। मामला सर्वोच्च न्यायालय में भी पहुँच गया है। इस पूरे मामले में विपक्ष प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के सीधे शामिल होने की आशंका जता रहा है। दो मुख्य आरोप हैं, पहला 126 विमानों की जगह 36 विमान ही क्यों खरीदे जा रहे हैं? दूसरा, तकनीकी रूप से दक्ष हिन्दोस्तान ऐरोनौटिक्स लिमिटेड (एचएएल) जो एक सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी है, उसकी जगह तीन साल पहले अस्तित्व में आयी रिलायंस डिफेंस लिमिटेड को सौदे में शामिल क्यों किया गया? उल्लेखनीय है कि एचएएल कम्पनी सालों से विमान बनाने और रखरखाव करने का काम करती आ रही है जबकि रिलायन्स का इस क्षेत्र में कुछ भी अनुभव नहीं है।

फ्रांसिसी भाषा में राफेल का अर्थ होता है- तूफान। यह दुश्मन के हवाई क्षेत्र में जाकर तूफान मचाये, इससे पहले इसने भारतीय राजनीति में तूफान खड़ा कर दिया है। इसकी वजह से भारतीय मीडिया के सबसे चहेते प्रधानमंत्री की कार्यशैली पर सवाल खड़े हुए हैं। विपक्ष आक्रामक मुद्रा में है। वह सरकार को घेरकर अपना मतबैंक बढ़ाने का कोई भी अवसर हाथ से निकालना नहीं चाहता। सरकार की तरफ से जिस व्यक्ति ने राफेल डील पर हस्ताक्षर किया है वह मैदान में नहीं आ रहा है। दूसरे मंत्री अन्तर्विरोधी बयान देकर मामले पर लीपापोती करने की कोशिश कर रहे हैं। वे आपस की तू-तू मैं-मैं से जनता का ध्यान मुख्य मुददे से ही भटकाना चाहते हैं, देश को अँधेरे में रखना चाहते हैं और अपनी काली करतूतों को पर्दे के पीछे छुपाना चाहते हैं।

इस समय राफेल को लेकर उठे सवाल और जवाब दोनों की ही भरमार है। इसलिए सही विश्लेषण के लिए तथ्यों की कमी नहीं है। पूरे मामले को समझने के लिए कम से कम 2012 से शुरुआत करनी पड़ेगी क्योंकि भारत के रक्षा मंत्रालय ने 31 जनवरी 2012 को ही यह घोषणा की थी कि "भारतीय वायु सेना के लिए 126 विमान आपूर्ति करने के लिए फ्रांस की दसौल्ट कम्पनी को चुन लिया गया है"। समझौते के अनुसार 18 विमान पूरी तरह से तैयार होकर आने थे, बचे हुए 108 एचएएल के साथ तकनीकी साझा करते हुए बनाये जाने थे। रक्षा मंत्रालय ने इन विमानों की खरीद के लिए 55 हजार करोड़ रुपये आवंटित किये थे। इस तरह यह भारत का सबसे बड़ा रक्षा सौदा था।

पहले वायुसेना द्वारा गहन विश्लेषण के बाद यूरोफाइटर टाइफून और दसौल्ट कम्पनी को चुना गया था। बाद में 31 जनवरी 2012 को विमान के बनाने से लेकर रिटायर होने तक के खर्चे को ध्यान में रखकर दसौल्ट को ठेका दिया गया था। भारत और फ्रांस की सरकारों ने 126 विमानों के लिए शुरुआती अनुबंध पर हस्ताक्षर किये थे। इसके बाद भारत सरकार ने विमान के रखरखाव की गारंटी को लेकर कीमत को कम कराना चाहा, साथ ही तकनीकी शेयर होने पर एचएएल द्वारा बनाये गये विमानों की गारंटी भी चाही। जब दसौल्ट इसके लिए राजी नहीं हुआ और रखरखाव पर खर्च में कटौती भी नहीं की, तो भारत सरकार ने बजट की कमी को देखते हुए सौदे को अगले वित्तीय वर्ष के लिए आगे बढ़ा दिया। मोदी सरकार के आने से पहले ही 13 मार्च 2014 को राफेल बनाने वाली दसौल्ट और एचएएल के बीच कामों में भागीदारी को लेकर भी एक समझौता हो गया था।

25 मार्च 2015 को दसौल्ट कम्पनी के एक प्रमुख ने कहा कि "हमने अनुबंध को अन्तिम रूप दे दिया है बस हस्ताक्षर बाकी हैं।" 8 अप्रैल को विदेश सचिव ने कहा कि "फ्रांस दौरे में प्रधानमंत्री राफेल पर बात नहीं करेंगे।" 10 अप्रैल को प्रधानमंत्री फ्रांस गये लेकिन विदेश सचिव ने जो कहा था कि प्रधानमंत्री राफेल पर बात नहीं करेंगे इससे ठीक उलट हुआ। 10 अप्रैल को प्रधानमंत्री ने घोषणा की कि भारत सरकार 36 राफेल विमान खरीदेगी। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी और फ्रांस के तत्कालीन राष्ट्रपति ओलान्द के बीच बातचीत के बाद एक संयुक्त बयान आया कि 36 राफेल जेट की आपूर्ति के लिए सहमति बन गयी है। 23 सितंबर 2016 को 7.87 अरब यूरो, यानी लगभग 59 हजार करोड़ रुपये के सौदे पर हस्ताक्षर हुए। राफेल की आपूर्ति 2019 से शुरू होनी थी।

भारत में राफेल के रखरखाव, मरम्मत जैसे दूसरे कामों के लिए नयी-नवेली कम्पनी 'रिलायंस डिफेंस लिमिटेड' को ऑफसेट पार्टनर चुना गया। प्रधानमंत्री की फ्रांस यात्रा के बाद एचएएल अचानक सौदे से गायब कर दिया गया जबकि एचएएल और वायुसेना के विशेषज्ञों ने ही दसौल्ट को राफेल की आपूर्ति के लिए चुना था। भारत में साझीदारी मिली रिलायंस डिफेंस लिमिटेड को, जिसकी वेबसाइट के अनुसार अभी आधिकारिक पूँजी है 5 लाख रुपये जिससे एक बढ़िया कार भी नहीं खरीदी जा सकती है। अभी

तक इस कम्पनी को बच्चों के खिलौने वाले जहाज बनाने का भी अनुभव नहीं है जबकि एचएएल के प्रमुख राजू का कहना है कि "जब एचएएल 25 टन का सुखोई, चौथी पीढ़ी का लड़ाकू विमान जिसे वायु सेना मुख्य रूप से इस्तेमाल करती है; बना सकती है तो हम क्या बात कर रहे हैं? हम जरूर ऐसा राफेल विमान बना लेते।" उन्होंने यह भी कहा कि एचएएल पिछले 20 साल से मिराज-200 की देखभाल कर रही है, जिसे राफेल बनाने वाली कम्पनी दसौल्ट ने ही बनाया है। राजू ने कहा कि "हम राफेल भी बना लेते। मैं पाँच साल तक तकनीकी विभाग का प्रमुख था और सबकुछ ठीक था। आपको विमान की उम्र पर खर्च देखना है, न कि हर पीस पर होने वाला खर्च। लम्बे समय में भारतीय राफेल सस्ता ही पड़ता और यह स्वावलम्बी होने की बात है। अगर फ्रांसीसी 100 घण्टे में 100 विमान बना रहे हैं तो मैं पहली बार बनाने के लिए 200 घण्टे लूँगा। मैं 80 घण्टे में ऐसा नहीं कर सकता। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है।"

पक्ष-विपक्ष की बयानबाजी

विपक्ष ने सरकार पर राफेल सौदे में अनियमितता बरतने और एचएएल को किनारे करके रिलायंस डिफेंस लिमिटेड को दसौल्ट कम्पनी का ऑफसेट पार्टनर बनाने का आरोप लगाया।

राहुल गाँधी ने कहा कि "प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी एक 'भ्रष्ट व्यक्ति' हैं जिन्होंने लड़ाकू विमानों की खरीद में अनिल अम्बानी को 30,000 करोड़ रुपये का फायदा पहुँचाया।"

कांग्रेस की तरफ से आधिकारिक बयान आया कि "सरकार औसतन 1,670 करोड़ रुपये में एक विमान खरीद रही है जबकि यूपीए सरकार ने एक विमान की कीमत 526 करोड़ रुपये तय की थी। कांग्रेस ने सरकार से जवाब माँगा है कि सरकारी एयरोस्पेस कम्पनी एचएएल को क्यों इस सौदे में शामिल नहीं किया गया? एक विमान की कीमत 526 करोड़ रुपये से बढ़कर 1,670 करोड़ रुपये कैसे हो गयी?"

राफेल को लेकर सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ वकील प्रशान्त भूषण ने याचिका दायर की है। उनका कहना है कि "यह न केवल भारत में सबसे बड़ा रक्षा घोटाला है बल्कि इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा से भी समझौता किया गया है। वायुसेना को 126 विमानों की जरूरत थी लेकिन इसे घटाकर 36 कर दिया गया।"

सरकार ने भारत और फ्रांस के बीच 2008 के समझौते के एक प्रावधान का हवाला देते हुए इससे जुड़े विवरण साझा करने से इनकार कर दिया है।

वित्त मंत्री अरुण जेटली ने सोशल मीडिया में लिखकर कांग्रेस और उसके नेता राहुल गाँधी पर सौदे के बारे में झूठ बोलने और दुष्प्रचार करने का आरोप लगाया। उन्होंने कहा कि हमारी सरकार ने जो सौदा किया है, वह यूपीए सरकार के तहत 2007 में होने वाले सौदे से बेहतर है। कैसे बेहतर है? क्यों बेहतर है? इसका उन्होंने जवाब नहीं दिया।

रक्षामंत्री सीतारमण ने सरकार का बचाव करते हुए कहा कि "एचएएल के बारे में हम पर जो आरोप मढ़े जा रहे हैं, इसके बारे में हमें नहीं, सप्रंग को जवाब देना है कि क्योंकि उसके कार्यकाल में दसौल्ट और एचएएल के बीच समझौता नहीं हुआ।"

वैसे तो विदेश राज्य मंत्री वीके सिंह का बयान कोई मायने नहीं रखता, फिर भी सरकार के बचाव के लिए छटपटाहट बयान में झलकती है। उन्होंने राफेल पर सवाल करने वालों को शोर न मचाने की सलाह भी दे डाली और कहा कि "अगर फ्रांसीसी कम्पनी दसौल्ट एविएशन ने सरकारी कम्पनी एचएएल को काम का नहीं समझा, तो इस पर शोर नहीं मचाना चाहिए। उन्होंने कहा कि "कम्पनी उपकरण बना रही है और वही तय करती है कि किसे जिम्मेदारी देनी है। दसॉल्ट ने जिन कम्पनियों को चुना, अनिल अंबानी की कम्पनी उनमें से एक है।"

फ्रांस के राष्ट्रपति ओलान्द हालाँकि अपने बयान से मुकर गये हैं, वैसे उन्होंने कहा था कि "भारत सरकार ने ही रिलायंस डिफेंस का नाम सुझाया था।"

सर्वोच्च न्यायालय में बयान

सर्वोच्च न्यायालय में दायर याचिकाओं की सुनवाई के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार से इन तमाम घटानाओं तथा विमान की खरीद प्रक्रिया और कीमत को लेकर बन्द लिफाफे में जानकारी माँगी। सरकार ने रिपोर्ट भेज दी है जिसमें सरकार का मानना है कि दसौल्ट कम्पनी को अपना ऑफसेट सहयोगी चुनने की पूर्ण आजादी है।

सरकार की ओर से आये अटार्नी जनरल के के वेणुगोपाल ने रक्षा सौदे की सुनवाई पर ही सवाल खड़ा कर दिया। उन्होंने कहा कि न्यायालय यह तय नहीं कर सकता कि कितने विमान खरीदे जायें? उन्होंने कहा कि अगर दाम की पूरी जानकारी सामने आयी तो इससे विरोधी फायदा उठा सकते हैं।

याचिका दायर करने वाले प्रशान्त भूषण ने कहा कि "रिलायंस डिफेंस के पास ऐसी क्षमता नहीं है। उसे फायदा पहुँचाने के लिए भारत सरकार के कहने पर ऐसा हुआ है। यह भ्रष्टाचार का मामला है। प्रक्रिया बताती है कि बिना रक्षा मंत्री की अनुमति के ऑफसेट पार्टनर तय नहीं हो सकता, तो सरकार कैसे कह सकती है कि उसे इसकी जानकारी नहीं है? रिलायंस डिफेंस को ऑफसेट पार्टनर बनाने के लिए नियम बदले गये हैं।"

इस पर चीफ जस्टिस ने पूछा कि 2015 में ऑफसेट गाइडलाइंस क्यों बदली गयी? जस्टिस के एम जोसेफ ने सवाल उठाया कि अगर ऑफसेट पार्टनर भाग जाये या प्रोडक्शन नहीं करता है, तो क्या करेंगे, देरी का कौन जिम्मेदार होगा?

वहीं, न्यायालय के बुलावे पर एयर मार्शल और एयर वाइस मार्शल भी पेश हुए। चीफ जस्टिस ने उनसे पूछा कि राफेल कितने देश उड़ाते हैं? आखिरी बार वायुसेना में विमान कब शामिल हुए? इस पर एयर वाइस मार्शल ने बताया कि भारत में बने हालिया विमान सुखोई और एलसीए हैं। लेकिन ये 3.5 जेनरेशन के ही हैं। हमें फोर्थ या फिफ्थ जेनरेशन के विमानों की जरूरत है। विदेश से आयी आखिरी खेप 1985 में मिराज विमानों की है। हालांकि वह भी 3.5 जेनरेशन की है।

ऊपर के बयानों से स्पष्ट है कि भारत सरकार ने विमानों को देश की सुरक्षा के लिए जल्द से जल्द खरीदने की जरूरत महसूस की। इसलिए उसने बनवाने की जगह बने-बनाये विमान खरीदने को मंजूरी दी। इतना ही नहीं, दोहरे मोर्चे एक साथ खुलने की तैयारी भी भारत सरकार कर रही है। इसके लिए लगभग एक लाख करोड़ के फाइटर प्लेन खरीदने का टेंडर अप्रैल 2018 में निकल चुका है। फ्रांस, अमरीका, रूस और स्वीडन की कम्पनियाँ ठेका पाने को लालायित हैं और पूरा जोर लगा रही हैं। अगर यह सौदा हुआ तो दुनिया का सबसे बड़ा रक्षा सौदा होगा।

एयर मार्शल और एयर वाइस मार्शल के बयान ने कि'विदेश से विमान की आखिरी खेप 1985 में आयी थी' विमान खरीदने की सख्त जरूरत को और साफ किया है। सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस बयान पर हैरानी जतायी थी। वैसे सच्चाई यह है कि एयरफोर्स के पास अभी 44 लड़ाकू दस्ते हैं, लेकिन पुराने विमान बाहर कर दिये जाने से 34 दस्ते ही बचे हैं। लड़ाकू विमान की जरूरत तो है। आखिरी बार वायुसेना को विमान मिलने वाली बात भी झूठ है क्योंकि 1996 में रूस से सुखोई 30 एमकेआई मिले थे। पुराने हो चुके मिग-21 और मिग-27 विमान बेड़े से हटाये जा रहे हैं। अब एक नया सवाल यह खड़ा हुआ कि वायु सेना अधिकारियों ने झूठ क्यों बोला?

एक बात और, भारत में राफेल बनवाने के बजाय फ्रांस से बने-बनाये विमान खरीदना प्रधानमंत्री की खुद की योजना 'मेक इन इंडिया' का गला घोटना भी है। जैसा कि फ्रांस की एक पत्रिका ने भी लिखा है कि अगर राफेल भारत में बनाते तो यह परियोजना 'मेक इन इंडिया' की माँ होती।

सरकार का कहना है कि राफेल के बारे में जानकारी को सार्वजनिक करना विरोधियों की मदद करेगा। किन विरोधियों की? पाकिस्तान या चीन की? या विपक्षी राजनीतिक पार्टियों की? जबकि राफेल की तकनीकी विशेषताएँ सारी दुनिया को पता है। राफेल के बारे में सुनकर तो दुशमनों को डरना चाहिए था, बल्कि हो उल्टा रहा है, सरकार ही डर रही है। राफेल पहले भी इस्तेमाल किया जा चुका है। नाटो राफेल को अफगानिस्तान लीबिया, माली और इराक में इस्तेमाल कर चुका है। कई पत्र-पत्रिकाओं और आधिकारिक वेबसाइट पर इसकी सभी तकनीकी जानकारी उपलब्ध हैं।

खैर, राफेल की तकनीकी विशेषताओं को छोड़ भी दें तो कीमत से कैसे विरोधी लाभ उठाएँगे? अगर इससे लाभ उठाया जा सकता है तो दसौल्ट कम्पनी को और रिलायंस डिफेंस लिमिटेड को कर्ज देने वाले आईसीआईसीआई बैंक को कीमतें बताने का किसने अधिकार दे दिया?

2015 में नियमों में फेर बदल करके दसौल्ट को ऑफसेट पार्टनर चुनने की आजादी जानबूझकर दी गयी। राफेल को देश की सुरक्षा के लिए जरूरी बताया गया। साथ ही फ्रांस की कम्पनी के साथ रिलायंस का भागीदार होना, एचएएल को पृष्ठभूमि में धकेल देना जनहित में बताया गया। आज देश में सब जानते हैं रिलायंस और अम्बानी किसका सगा है।

घटनाओं को सिलसिलेवार देखने पर साफ पता चलता है कि दाल में कुछ काला तो जरूर है। सर्वोच्च न्यायालय में मामला चल रहा है, अब आने वाला समय ही बतायेगा कि काली चीज खुलकर सामने आ पाती है या उसे पर्दे की आड़ में ढक दिया जायेगा। लेकिन यह तो तय ही है कि पूँजीवादी पार्टियों के मक्कार नेता इतने माहिर होते हैं कि वे पूँजीपतियों को खुलेआम दी गयी सब्सिडी को भी जनहित और देशहित में घोषित कर देते हैं। तमाम बड़े अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ ऐसे तर्कों से अखबारों को भर देते हैं कि सरकार के ऐसे कदम वाकई जनहित में है। लेकिन साल दो साल बीतते-बीतते पता चलता है कि जो कदम उठाये गये थे उनसे जनता का कुछ भला नहीं हुआ, उल्टे अमीर-गरीब के बीच की खाई बढ़ गयी। जनता त्राहिमाम त्राहिमाम करने लगी। फिर से नये कदम उठाये जाते हैं और फिर से विश्वास दिलाया जाता है कि नहीं, इस बार तो पक्का जनहित में ये कदम उठाये गये हैं।

1991 में विश्व बैंक से लिया गया कर्ज जनहित में बताया गया था। शिक्षा का निजीकरण शिक्षा की उन्नति के लिए बताया गया था। स्वास्थ्य का निजीकरण स्वास्थ्य की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए बताया गया था। नोटबन्दी जनहित के साथ-साथ आतंकवाद और घुसपैठियों का सफाया करने में भी सहयोगी बतायी गयी थी। अब इनके नतीजे हमारे सामने है और सिर्फ पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ाने में सफल हुए राफेल सौदे के साथ भी यही होगा।

अब जो जिसका खायेगा उसका तो बजायेगा ही। चौकीदार ने नमक की कीमत चुकायी है और इससे यह बात भी पुष्ट हो जाती है कि जब तक यह शोषण पर टिका समाज है सरकारें लाख कहें कि वह जनहित और देशहित में काम कर रही हैं, लेकिन प्रभावी तौर पर वे पूँजीपति वर्ग की ही प्रतिनिधि होती हैं। आज की सरकारों के द्वारा उठाए गये कदमों से यह साफ जाहिर होता है कि वह खुलेआम पूँजीपति वर्ग के साथ हैं। पूँजीपतियों के मुनाफे में साल दर साल अच्छी बढ़ोतरी हो रही है। दूसरी ओर किसान मजदूरों का दिन-ब-दिन जीना मुश्किल होता जा रहा है। ऐसी सरकार से जनहित में किसी काम की उम्मीद करना बहुत भोलापन होगा।

अमरीकी धमकियों के प्रति भारत का रूख, क्या विश्व व्यवस्था में बदलाव का संकेत है?

--प्रवीण कुमार

अमरीकी धमकियों की परवाह न करते हुए, 5 अक्टूबर को भारत ने रूस के साथ एस-400 मिसाइल की खरीद के समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसके अलावा दोनों देशों ने आठ और समझौतों या सहमति ज्ञापनों पर भी हस्ताक्षर किये और भविष्य में दूसरे बहुत से समझौतों के लिए रास्ते खोले।

ईरान के मामले में भी भारत ने यही आचरण करते हुए अमरीकी धमकियों के आगे आत्मसमर्पण नहीं किया। हालाँकि भारत चाहकर भी 4 नवम्बर तक ईरान से तेल आयात को शून्य पर नहीं ला सकता था, जैसी अमरीका की इच्छा थी। इसके विपरीत वह ईरान से तेल आयात जारी रखने की घोषणा कर चुका है।

अमरीका विरोधी कुछ देशों को सबक सिखाने के लिए ट्रम्प प्रशासन ने 2017 में काउन्टरिंग अमरीका एडवर्सरीज सैंक्सन एक्ट (सीएएटीएसए) बनाया था। यह कोई अन्तरराष्ट्रीय कानून नहीं है बल्कि अमरीका का घरेलू कानून है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्वीकृति मिलना तो दूर, उसकी किसी बैठक में इस पर आज तक विचार-विमर्श नहीं हुआ है। अमरीका अपने मन से जिस देश को भी इस कानून का उलंघन करने का दोषी मानता है उसकी आर्थिक नाकेबन्दी करता है। दोषी देशों के साथ व्यापार करने वाले देशों के साथ अमरीका अपने आर्थिक रिश्ते खत्म करने की धमकियाँ देता है, उन पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध थोप सकता है और उन्हें माफ भी कर सकता है, यह अमरीका की अपनी मर्जी पर निर्भर है। रूस और ईरान, दोनों ही देशों को अमरीका सीएएटीएसए का दोषी मानता है और उसने इनकी आर्थिक नाकेबन्दी कर रखी है।

इन दोनों देशों के साथ व्यापारिक समझौते करने पर अमरीका ने भारत को प्रतिबन्ध झेलने की धमकी दी थी। हालाँकि बाद में उसने रूस के साथ समझौते के मामले में भारत को माफीशुदा देशों के दर्जे में रख दिया लेकिन ईरान के मामले में भारत को अभी तक माफी नहीं दी है।

इन दोनों मामलों में अमरीकी धमकियों के आगे भारत के न झुकने के कारण को समझने के लिए हमें रूस और ईरान के साथ भारत के समझौतों पर एक सरसरी नजर डालनी होगी और उदारीकरण की नीतियों को ध्यान में रखकर उनकी जाँच-पड़ताल करनी होगी।

4 और 5 अक्टूबर को नई दिल्ली में रूसी राष्ट्रपति पुतिन और भारत के प्रधानमंत्री मोदी के बीच हुई वार्ता, भारत-रूस वार्षिक द्विपक्षीय शिखर सम्मलेन की 19वीं कड़ी थी। इस शिखर सम्मलेन में दोनों देशों के राष्ट्राध्यक्षों, मंत्रियों, राजदूतों के अलावा दो सौ कम्पनियों के सीईओ ने हिस्सा लिया। इस सम्मलेन में दोनों देशों के बीच 8 समझौतों या सहमति पत्रों पर हस्ताक्षर हुए और 20 से ज्यादा समझौतों के लिए विचार-विमर्श हुआ।

कई सालों से अटका पड़ा एस-400 मिसाइल की खरीद का समझौता इस सम्मलेन में सम्पन्न हो गया। इसके अनुसार रूस भारत को 40 हजार 300 करोड़ रुपये में पाँच मिसाइल प्रणालियाँ देगा। इनकी आपूर्ति दो साल बाद 2020 में शुरू होगी। रकम का भुगतान दोनों देशों के केन्द्रीय बैंकों द्वारा तैयार की गयी रूबल-रुपया प्रणाली से होगा।

भुगतान की पहली किश्त जाते ही भारत पर अमरीकी कानून सीएएटीएसए के तहत कानूनी कार्रवाई होनी थी लेकिन फिलहाल पहली किश्त के लिए भारत को माफी दे दी गयी है।

बाकी समझौते तकनीक हस्तांतरण, रेल व हाईवे निर्माण, रासायनिक उर्वरक, नाभकीय ऊर्जा, दवाई उद्योग के क्षेत्रों में हुए हैं।

भारत और रूस ने 2025 तक सालाना द्वीपक्षीय व्यापार को 300 अरब डॉलर तक बढ़ाने का लक्ष्य तय किया था। इस लक्ष्य को 7 साल पहले 2018 में ही हासिल कर लिया गया है। अब दोनों देशों ने 2025 तक सालाना 500 अरब डॉलर के द्विपक्षीय व्यापार का लक्ष्य तय किया है। रूसी राष्ट्रपति पुतिन ने कहा कि दोनों देशों के बीच व्यापार बढ़ाने की हमारी कोशिशें सफल रही हैं। पिछले साल यह 24 प्रतिशत बढ़ा था और इस साल के शुरू के 5 महीनों में 26 प्रतिशत बढ़ा है।

6 अक्टूबर को रूस के उद्योग और व्यापार मंत्री डेनिश मेत्रोव ने एक साक्षात्कार में बताया कि दोनों देश रक्षा के अलावा दूसरे क्षेत्रों में सहयोग की सम्भावनाओं पर जोर दे रहे हैं। रूसी केन्द्रीय बैंक और भारतीय रिजर्व बैंक ने लेन-देन के लिए

राष्ट्रीय मुद्राओं के इस्तेमाल का तरीका विकसित किया है और भारत रूस के साथ व्यापार करने वाले प्रमुख देशों में शामिल हो गया है। विमानन क्षेत्र में भारत 200 रूसी केऐ226टी हैलीकॉप्टर खरीदने के समझौते पर भी हस्ताक्षर कर चुका है। भविष्य में रूसी विमानन कम्पनियाँ भारतीय निजी कम्पनियों को हैलीकॉप्टर बेचने की योजनाएँ बना रही हैं।

उन्होंने यह भी बताया कि दोनों देश मिलकर भारत में 6 नये नाभकीय संयत्र लगाने और विशेष आर्थिक क्षेत्र स्थापित करने की योजनाओं पर भी सहमत हैं।

मास्को और दिल्ली जल्दी ही ग्रीन कोरीडोर परियोजना को लागू करने के परीक्षण करने वाले हैं। इसे रूस की फेडरल कस्टम सर्विस ने तैयार किया है। इसमें प्रस्ताव है कि दोनों देश अपने देश की ऐसी कम्पनियों की सूची तैयार करें जिनका माल कस्टम जाँच के बिना सीमा पार जा सके। रूस फिनलैंड, तुर्की, चीन, इटली के साथ यह समझौता पहले ही कर चुका है। इस परियोजना के तहत जाने वाले मालों के दस्तावेजों और नमूनों की भी जाँच नहीं की जायेगी। केवल माल भेजने वाली कम्पनी को एक शपथ पत्र देना होगा।

दोनों देशों के बीच नॉर्थ-साऊथ ट्रांसपोर्ट कॉरीडोर परियोजना को पूरा करने पर भी सहमति बनी है। इस मार्ग परियोजना में भारत, ईरान, अजरबेजान और रूस से समुद्री, रेल और सड़क मार्ग से मालों की निर्वाध ढुलाई शामिल है। रूस के आर्थिक विकास मंत्रालय का मानना है कि उपरोक्त दोनों परियोजनाओं पर अमल करने से मालों की ढुलाई 30 प्रतिशत सस्ती हो जायेगी और 40 प्रतिशत समय की बचत होगी।

रूस ने भारत में रेल और हाइवे के निर्माण में निवेश और तकनीकी सहयोग देने की इच्छा भी जाहिर की और भारतीय तेल कम्पनियों को रूस से तेल और गैस क्षेत्र में निवेश करने का न्योता दिया। भारतीय तेल कम्पनियाँ इस क्षेत्र में 100 अरब डॉलर से ज्यादा का निवेश पहले ही कर चुकी हैं। रूसी कम्पनियों ने भी भारत की एस्सार ऑयल में 130 अरब डॉलर का निवेश करने का वादा किया है। पैट्रोलियम मंत्री धर्मेन्द्र प्रधान का कहना है कि "प्रधानमंत्री मोदी और राष्ट्रपति पुतिन ने ऊर्जा क्षेत्र में सहयोग पर विशेष जोर दिया है। रूस तेल और प्राकृतिक गैस में दुनिया के सबसे बड़े उत्पादकों में शामिल है और वह भारत की बढ़ती ऊर्जा जरूरतों को पूरा कर सकता है।"

इण्डियन बिजनेस एलाइंस के अध्यक्ष सम्मी कोटवानी, जो सम्मलेन का हिस्सा थे, ने अपने साक्षात्कार में कहा कि 'भारतीय कम्पनियाँ वस्त्रों और फार्मास्यूटिकल्स के क्षेत्र में आगे हैं। लेकिन मुझे लगता है कि हमारे बीच वास्तविक सम्भावना के क्षेत्र खुलने बाकी हैं, जो छोटे और मध्यम आकार की मशीनों के निर्माण, पेट्रोरसायन, फूड प्रोसेसिंग, खेती जैसे क्षेत्र हैं।'

रूस के साथ शिखर वार्ता के ठीक बाद 8 अक्टूबर को पेट्रोलियम मंत्री धर्मेन्द्र प्रधान ने ब्यान दिया था कि 'भारत ईरान से तेल की खरीद जारी रखेगा।' हालाँकि सितम्बर और अक्टूबर के महीनों में ईरान से तेल की खरीद में भारत ने अप्रेल से सितम्बर तक की खरीद की तुलना में 120 लाख बैरल प्रतिदिन की कटौती की थी। सरकारी क्षेत्र की कम्पनियाँ आईओसीएल और वीपीएल अक्टूबर तक ईरान से तेल खरीद का करार करने से बचती रहीं। इस दौरान सरकार अलग-अलग माध्यमों के जरिये, ईरान के मामले में अमरीकी प्रतिबन्धों से माफी पाने की कोशिशें करती रही। अमरीका ने अभी तक भारत को छूट देने की कोई घोषणा तो नहीं की है लेकिन सम्भावना है कि वह इस मामले में भी छूट दे सकता है। दरअसल ईरान भारत का परम्परागत सहयोगी है और अमरीका सबसे बड़ा रणनीतिक साझेदार, तीसरे पक्ष में सरकारी तेल कम्पनियाँ हैं जिनकी बेहतर सेहत अर्थव्यवस्था को टिकाए रखने के लिए लाजमी है। भारत सरकार अलग-अलग माध्यमों से तीनों को साधने में लगी हुई है। प्रधानमंत्री की घोषणा से पहले ही भारत में अमरीका के राजदूत ने बयान दिया था कि अमरीका अपने सहयोगी को परेशानी में डालना नहीं चाहता।

भारत अपनी जरूरत का 83 प्रतिशत तेल आयात करता है। इराक और सऊदी अरब के बाद ईरान भारत को सबसे ज्यादा तेल निर्यात करने वाला देश है। भारत ने इस साल ईरान से औसतन 57.7 लाख बैरल प्रतिदिन तेल खरीदा है। हालाँकि अमरीका के दबाव से हमेशा ईरान से तेल खरीद की मात्रा में उतार-चढ़ाव आता रहा है। 2016 में भारत ने ईरान से जितना तेल खरीदा था, 2017 में उसमें लगभग 40 प्रतिशत की कटौती कर दी। 2018 में यह मात्रा बढ़ी लेकिन अभी तक भी 2016 के स्तर पर नहीं पहुँची है।

तेल के अलावा भारत ईरान से सूखे मेवे, रेजिन, कारपेट, रेड ऑक्साइड, सल्फर, कॉपर, जिंक आदि धातुओं का भी आयात करता है। भारत से ईरान को होने वाले निर्यात में कपड़े, खाद्य पदार्थ, कृषि उत्पाद, रासायनिक उत्पाद, बिजली व रबर का सामान आदि है। ईरान के जो प्रमुख 25 आयात हैं उनमें भारत का हिस्सा लगभग 12 प्रतिशत है।

ईरान भारत को बाजार भाव से 2.5 डॉलर से 1.5 डॉलर प्रति बैरल तक सस्ते दाम पर तेल देता है। भारत और ईरान की तेल कम्पनियों और बैंकों ने रुपया-रियाल नाम से ऐसी व्यवस्था तैयार की है जिससे दोनों देशों को अपनी-अपनी मुद्राओं में भुगतान करने की छूट हो गयी है। दूसरे तेल निर्यातक देश जहाँ भारत से तुरन्त

भुगतान माँगते हैं वहीं ईरान 30 से 60 दिन तक का समय देता है। इसके साथ ही वह ढ़लाई खर्च का बड़ा हिस्सा भी खुद वहन करता है।

अमरीका-ईरान नाभकीय समझौता हो जाने के बाद अमरीका, ईरान, भारत ने मिलकर चाबाहार बन्दरगाह (ईरान) को आधुनिक ढंग से तैयार करने और वहाँ से अफगानिस्तान तक रेल मार्ग बिछाने की परियोजना तैयार की थी। इस पर काफी काम हो गया है। भारत की सरकारी तेल कम्पनियों ने बन्दरगाह के निर्माण के लिए 50 करोड़ डॉलर का फंड भी दिया था और भारत सरकार ने रेल मार्ग के लिए 20 अरब डॉलर के निवेश को मंजूरी दी थी। इस परियोजना से भारतीय कम्पनियों की अफगानिस्तान और इराक तक सीधी पहुँच हो जाती। लेकिन अमरीका द्वारा ईरान से समझौता तोड़ देने के चलते यह परियोजना खटाई में पड़ गयी है। अगर अमरीकी दबाव के चलते भारत ईरान से तेल आयात बन्द करता है तो भारत का सारा निवेश ढूब जायेगा। इसके अलावा भारत की तेल कम्पनियों ने ईरान के फैजाद बी गैस फील्ड में हिस्सेदारी खरीदने का समझौता भी कर रखा है जो भारत की बढ़ती उर्जा जरूरतों के लिए एक जरूरी समझौता है।

भारत रूस की अगुवाई वाली नॉर्थ-साऊथ कॉरीडोर परियोजना में भी शामिल है। चाबाहार बन्दरगाह इस परियोजना के केन्द्र में है। रूस की अगुवाई में ही यूरेशियाई आर्थिक संघ बनाने के लिए भी वार्ताएँ चल रही हैं। भारत भी इस महत्त्वकांक्षी परियोजना में शामिल होने का इच्छुक है। हालाँकि इस परियोजना में बहुत सी बाधाएँ हैं और निकट भविष्य में इस पर अमल की सम्भावनाएँ कम ही हैं।

रूस और ईरान के साथ भारत के रिश्तों की मौजूदा स्थिति से स्पष्ट है कि अगर भारत अमरीका की धमकियों को सुनता तो उसे बहुत कुछ खोना पड़ता। जिस कानून के बहाने अमरीका भारत पर प्रतिबन्ध लगाने वाला है वह कानून एकतरफा है। न तो कभी अमरीका ने इस कानून के लिए दूसरे देशों के बीच सहमति बनाने की कोई कोशिश की और न ही इसे संयुक्त राष्ट्र से मान्यता मिली।

नव उदारवाद के जिस सिद्धान्त पर आज की दुनिया चल रही है वह देशों की राजनीतिक आजादी को काफी हद तक स्वीकार करता है और राजनीतिक नियंत्रण के बजाय यह विकसित राष्ट्रों और पिछड़े राष्ट्रों के बीच के विशाल तकनीकी और आर्थिक अन्तर से होने वाले पिछड़े राष्ट्रों के शोषण पर टिका है। इसमें राजनीतिक शोषण गौण पहलू है। अपना आर्थिक आधार कमजोर होने की मजबूरी में और अपने स्वार्थ के चलते कमजोर देशों के पूँजीपति वर्ग ने बहुत सी राजनीतिक बन्दिशों को खुद स्वीकार किया है। क्यूबा, वेनेजुएला, उत्तरी कोरिया, सीरिया, ईरान जैसे थोड़े से देशों की स्थिति अलग है। ये देश नवउदारवादी मॉडल के ही खिलाफ हैं। ये अपनी आजादी बरकरार रखना चाहते हैं। इन्हें नवउदारवाद के दायरे में लाने के लिए नवउदारवाद के अगुवा देश ज्यादातर डंडे के जोर से और कभी-कभी मान-मुनव्वल से कोशिशें करते रहते हैं।

आज भारत के अमरीका की धमकियों पर कान न देने और तात्कालिक रूप से रूस की ओर झुकाव को भारत के शासकों की आजादी के रूप में नहीं देखा जा सकता। नवउदारवाद के किसी देश पर आर्थिक गुलामी थोपने के सबसे कारगर हथियार हैं पूँजी का निवेश, वित्तीय सहायता, आयात-निर्यात के असमान तथा शोषणकारी सम्बन्ध, तकनीकी हस्तान्तरण, मुद्राओं की विनिमय दर में हेरा-फेरी आदि। दो देशों के बीच के रिश्तों में इन हथियारों का इस्तेमाल वही करेगा जिसके पास मजबूत आर्थिक आधार, उन्नत तकनीक और बड़ा पूँजी भण्डार होगा। तीनों ही मामलों में रूस भारत से कहीं आगे है। अतः भारत को शिकार बनना ही है। भारत की आजादी केवल शिकारी का चुनाव करने तक सीमित है। भारत-रूस समझौता नव उदारवादी मॉडल को नहीं तोड़ता। अमरीका की चिन्ता केवल इतनी है कि कहीं उसके बनाये मॉडल में ही रूस उसके लिए चुनौती न बन जाये।

यह सच है कि अमरीका के बजाय रूस के साथ समझौते में भारत की स्थिति तुलनात्मक रूप से थोड़ी बेहतर होती है। क्योंकि दोनों के बीच असमानता की खाई तुलनात्मक रूप से कम चौड़ी है। दरअसल भारत के पास देने के लिए कपड़ों, कृषि उत्पादों और कुछ कच्चे मालों के अलावा कुछ है ही नहीं तो आर्थिक लूट उसे झेलनी ही पड़ेगी। उसे कौन लूट रहा है। इससे विश्व व्यवस्था में कोई खास फर्क नहीं पड़ता लेकिन अमरीका की हैसियत को झटका जरूर लगता है।

ईरान से तेल आयात जारी रखना आज भारत की मजबूरी बन गयी है। पिछले चार सालों में देश की पहले से ही कमजोर अर्थव्यवस्था इतनी ज्यादा कमजोर हो चुकी है कि एक छोटा सा झटका भी उसे तोड़ सकता है। लगातार बढ़ते एनपीए और नोटबन्दी तथा जीएसटी जैसे मूर्खतापूर्ण फैसलों ने अर्थव्यवस्था को इस हालत में पहुँचा दिया है कि सरकार को रिजर्व बैंक की परिसम्पत्ति हथियाने का कदम उठाना पड़ा है। ऐसे में सस्ते तेल पर भारी टैक्स लगाने से होने वाली आय सरकार का एक बड़ा आर्थिक सहारा बन गयी है। ऐसी हालत में खुद अमरीका भी नहीं चाहेगा कि दक्षिणी एशिया का उसका सबसे बड़ा सहयोगी तबाह हो जाये। न तो भारत के शासक वर्ग की यह इच्छा है और न ही उसमें इतना दम है कि वह तेल के बेतहाशा निजी उपभोग पर कुछ अंकुश लगाकर अपनी आत्मनिर्भरता बढ़ाये। इसके उलट वह उपभोग को बढ़ावा देकर अपना मुनाफा बढ़ाता है। जबकि पाकिस्तान चीन की

ओर काफी झुक गया है। अमरीका के नाटो के सहयोगी सभी यूरोपीय देश ईरान पर अमरीकी प्रतिबन्धों का विरोध कर रहे हैं और उसके साथ व्यापार जारी रखे हुए हैं। इससे भारत के शासकों में भी थोड़ी हिम्मत आ गयी है।

आज की दुनिया बेहद जटिल तरीके से चल रही है। उसकी अतिसरलीकृत और लोकप्रियतावादी व्याख्या करने के चक्कर में हम अपनी सोच के दायरे से टकराने वाले असुविधाजनक तथ्यों की अनदेखी कर देते हैं। लेकिन दुनिया को आगे बढ़ाने की कोई भी रणनीति बनाने के लिए ठोस परिस्थितियों का ठोस विशलेषण जरूरी है। जो सोच भारत को कठपुतली देश मानती है उसके लिए मौजूदा घटनाओं का विश्लेषण करना सम्भव नहीं है और जो सोच भारत को एक आजाद देश मानती है वह भी गलत है। नवउदारवादी मॉडल को स्वीकार करने के बाद किसी देश का आजाद रहना मुमकिन ही नहीं है।

नवउदारवादी मॉडल एक साम्राज्यवादी मॉडल है। यह कमजोर राष्ट्रों को राजनीतिक रूप से गुलाम बनाकर नहीं बल्कि आर्थिक नीतियों के जरिये और कमजोर देशों के शासक पूँजीपति वर्ग को साथ मिलाकर लूटता है। यह एक नये तरह का आर्थिक साम्राज्यवाद है। साम्राज्यवाद छोटे उत्पादन को हजम करके पैदा हुआ है। वह प्रतियोगिता को पसन्द नहीं करता। अमरीका के ही बनाये हुए इस मॉडल में जब रूस और चीन जैसे देश उससे प्रतियोगिता करते नजर आते हैं तो वह उनके खिलाफ भी तानाशाही का रवैया अपनाता है और ईरान जैसे देशों के खिलाफ भी तानाशाही का रवैया अपनाता है, जो उसके मॉडल को हूबहू स्वीकार नहीं करते।

तीसरी दुनिया के भारत जैसे देशों में विकास का निम्न स्तर ही आज पहली दुनिया के विकसित देशों को जिन्दा रखे हुए है। तीसरी दुनिया के देशों में वहाँ की मेहनतकश जनता के खून-पसीने से जो अतिरिक्त मूल्य तैयार होता है उसका बड़ा हिस्सा नवउदारवादी नीतियों के रास्ते विकसित देशों में पहुँच जाता है। इसको केवल नवउदारवाद से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद करके और आत्मनिर्भर विकास का रास्ता अपनाकर ही रोका जा सकता है। रूस और ईरान के साथ हुए भारत के समझौते उसके आत्मनिर्भर बनने को नहीं बल्कि उदारवादी मॉडल को और ज्यादा स्वीकार करने को दर्शाते हैं। ये मौजूदा विश्व व्यवस्था के खिलाफ नहीं है।

निश्चय ही भारत का शासक पूँजीपति वर्ग उदारवाद के विरोध का कदम उठा भी नहीं सकता। वह बहुत पहले ही इस रास्ते को त्याग चुका है। आज विदेशी पूँजी और तकनीकी के बिना वह अपने देश की जनता का उतना शोषण नहीं कर सकता जितना कर रहा है। अपने देश के थोड़े से उपभोक्ता वर्ग की जरूरत का सामान तैयार करने लायक पूँजी और तकनीकी भी उसके पास नहीं है।

जो शासक वर्ग आर्थिक और तकनीकी रूप से इतना परनिर्भर हो, उसके लिए राजनीतिक आजादी के कोई खास मायने नहीं होते। बहुत सामान्य सी बात है आत्मनिर्भरता का सपना देखने वाला कोई गया गुजरा शासक भी अपने देश की जनता को भूखा मारकर अरबों-खरबों रुपये की मिसाइलें नहीं खरीद सकता या अपने देश की रेलों को राम भरोसे छोड़कर विदेशों में पटरियाँ बिछाने नहीं भागता या सार्वजनिक परिवहन का नाश करके कारों को बेलगाम छूट नहीं देता।

इन देशों का शासक वर्ग बहुत पहले ही अपने शासन करने के अधिकार और क्षमता को गँवा चुका है। अब वह अपनी जनता को बेरोजगारी, भुखमरी, कंगाली और तरह-तरह की सामाजिक, संस्कृतिक बीमारियों के अलावा कुछ नहीं दे सकता। वह देश बेचकर अय्याशियों के नशे में डूबा है। उसके पास कोई सपना नहीं है। नशे में डूबा यह शासक वर्ग केवल जनता के उन क्रान्तिकारी तूफानों का इन्तजार कर रहा है जो इसके सिंहासन को उलट दें। अब यह जनता के ऊपर है कि वह इसकी हसरत को कब पूरा करेगी। विश्व व्यवस्था में छोटे-मोटे बदलाव चलते रहेंगे लेकिन कोई बड़ा बदलाव अब जनता के क्रान्तिकारी तूफानों से ही सम्भव है।

कला की जिम्मेदारी

दिएगो ने कभी भी समुद्र नहीं देखा था। उसके पिता सांतियागो कोवादियोफ उसे समन्दर दिखाने ले गये।

वे दक्षिण की ओर गये।

रेत के टीलों के पार पसरा हुआ समन्दर उनका इन्तजार कर रहा था।

जब काफी पैदल चलने के बाद बच्चा और उसके पिता आखिर में टीलों तक पहुँचे, तो समन्दर उनकी आँखों के आगे फट पड़ा।

और सागर और उसकी चमक इतनी अपार थी कि बच्चा उसकी खूबसूरती से अवाक रह गया।

और जब वह कुछ बोलने के काबिल हुआ, तो काँपते हुए, हकलाते हुए, उसने अपने पिता से कहा--

'देखने में मेरी मदद करो!'

-एदुआर्दो गालेआनो

पर्यावरण

आईपीसीसी की जलवायु संकट पर नयी रिपोर्ट विनाश की ओर बढ़ती मानव जाति

--सन्देश कुमार

जलवायु परिवर्तन के विनाशकारी प्रभावों के कारण हमारी धरती और पूरी मानव सभ्यता पर तबाही का खतरा मंडरा रहा है। पृथ्वी लगातार गर्म होती जा रही है। ग्लेशियर पिघल रहे हैं। समुद्र का जलस्तर ऊपर उठ रहा है। पीने का पानी जहरीला होता जा रहा है। भारी वर्षा और सूखा दुनिया भर में तबाही मचा रहे हैं। खेती उजड़ती जा रही है। जीवों की कई प्रजातियाँ लुप्त होने के कगार पर आ गयी हैं। यदि यही हाल रहा तो वो दिन दूर नहीं जब पूरी मानव सभ्यता बर्बाद हो जायेगी।

8 अक्टूबर 2018 को जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र की संस्था इंटरगवर्मेंटल पैनल ऑफ क्लाइमेट चेंज (आईपीसीसी) ने अपनी नयी रिपोर्ट जारी करके चेतावनी दी। इस रिपोर्ट के अनुसार 2030 तक दुनिया का तापमान पूर्व औद्योगिक स्तर से 1.5 डिग्री तक बढ़ जायेगा। तापमान पूर्व औद्योगिक स्तर से एक डिग्री पहले ही बढ़ गया है। जिसके परिणाम पूरी दुनिया में देखने को मिल रहे हैं। आर्कटिक सागर की बर्फ तेजी से पिघल रही है। समुद्र का जलस्तर तेजी से बढ़ रहा है। 90 फीसदी ग्लेशियर पीछे खिसकते जा रहे है। इस वर्ष जून और जुलाई महीनों में केवल कैलिफोर्निया के वनों में 140 बार आग लगी। ग्रीस में जंगलों में लगी आग से 80 लोग मारे गये। यूरोप गरम हवाओं से तपता रहा। भारत में बिना मौसम के आये धूल के तूफानों ने 500 से अधिक लोगों की जान ले ली। दक्षिण अफ्रीका के केपटाउन शहर में सूखे में तीन गुना बढ़ोतरी हुई। जापान, भारत, अमरीका तथा अन्य जगहों पर बेतहाशा बारिश होने से फसल और घर नष्ट हो गये। ये सारी घटनाएँ असामान्य हैं। आने वाले दिनों में अजीबोगरीब मौसम की यह तीव्रता और अधिक बढ़ने वाली है। यदि मौसम से जुड़ी ऐसी घटनाएँ एक डिग्री पर महसूस की जा रहीं हैं जो कि औद्योगिक युग के पूर्व का स्तर है, तो 1.5 डिग्री की वृद्धि पर तो परिस्थितियाँ असहनीय हो जायेंगी।

आईपीसीसी की रिपोर्ट के अनुसार तापमान को पूर्व औद्योगिक स्तर के ऊपर अधिकतम 1.5 डिग्री तक रखना होगा। यदि तापमान इससे अधिक हो गया तो भारतीय उप महाद्वीप में भी इसके घातक परिणाम देखने को मिलेंगे। आईपीसीसी और दुनिया भर के वैज्ञानिकों का मानना है कि जलवायु परिवर्तन मानवनिर्मित है। रिपोर्ट के अनुसार यदि दुनिया का तापमान 1.5 डिग्री से अधिक बढ़ा तो भयानक गर्मी और लू की चपेट में आकर 35 करोड़ लोग मारे जायेंगी। भयानक सूखा, बे मौसम बारिश, बाढ़, तूफान आदि बढ़ेंगे। कई जीवजन्तु विलुप्त हो जायेंगी। यदि तापमान दो डिग्री को पार करता है तो स्थिति और विनाशकारी हो जायेगी। समुद्र तटीय इलाके समुद्र में डूब जायेंगी जिससे करोड़ों लोग बेघर हो जायेंगी। एशिया और अफ्रीका की कृषि अर्थव्यवस्थाएँ अधिक प्रभावित होंगी। फसल की पैदावार में गिरावट और जलवायु अस्थिरता के कारण 2050 तक गरीबों की संख्या कई अरब के आँकड़े तक पहुँच जायेगी। यदि वर्तमान गति से पर्यावरण प्रदूषण जारी रहा तो आने वाले 75 वर्षों में पृथ्वी के तापमान में 3 से 6 डिग्री की वृद्धि हो सकती है। इसके चलते बर्फ के पिघलने से समुद्री जल-स्तर में एक से 1.2 फीट तक की वृद्धि हो सकती है और मुम्बई, न्यूयार्क, पेरिस, लन्दन, मालदीव, हालैण्ड और बांग्लादेश के अधिकांश भूखण्ड समुद्र में जलमग्न हो सकते हैं। इन घटनाओं के कारण भुखमरी गरीबी, असमानता, बीमारी तेजी से बढ़ेगी। पूरी मानव सभ्यता अस्त-व्यस्त हो जायेगी।

पर्यावरण प्रदूषण का कारण वायुमण्डल में ग्रीनहाउस गैसों की वृद्धि है। पृथ्वी से उत्सर्जित होने वाली ऊर्जा को अवशोषित करने वाली गैसें ग्रीन हाउस गैस कहलाती हैं। इनमें कार्बन डाईऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रस ऑक्साइड, क्लोरोफ्लोरो कार्बन और जलवाष्प शामिल हैं। ये गैसें सूर्य की ऊर्जा को अन्दर आने देती हैं परन्तु बाहर नहीं जाने देती हैं। वायुमण्डल में जब इन गैसों की मात्रा बढ़ जाती है तो पृथ्वी का तापमान बढ़ने लगता है और ग्लोबल वार्मिंग की समस्या पैदा होती है।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद से विकास की जो तीव्र प्रक्रिया अपनायी गयी है उसमें पर्यावरण की अवहेलना की गयी, जिसका परिणाम आज पारिस्थितिकीय असन्तुलन और पर्यावरणीय संकट के रूप में हमार सामने उपस्थित है। आज विश्व के विकसित देश हो या विकासशील देश, कोई भी पर्यावरण प्रदूषण के कारण उत्पन्न गम्भीर समस्याओं से अछूते नहीं हैं।

1990 के दशक में पूरी दुनिया व्यापार समझौतों से एक सूत्र में बँधने लगी थी और उत्पादों की स्वतंत्र तथा निर्बाध आवाजाही

के लिए नियम बनाये गये। वैश्वीकरण ने एक ऐसी अन्तर्निर्भर दुनिया बनाने की कोशिश की जिसमें सस्ते श्रम का इस्तेमाल कम्पनियों का मुनाफा बढ़ाने के लिए किया जाने लगा। अगले दो दशकों में चीन वैश्विक बाजार के लिए उत्पादों का आपूर्तिकर्ता बनकर सामने आया और उपभोग भी खूब बढ़ा। 1990 के दशक में ही दुनिया ने जलवायु परिवर्तन को सीमित दायरे में रखने पर भी सहमति जतायी थी। यह आर्थिक भूमंडलीकरण के बरक्स पारिस्थितिकीय भूमंडलीकरण था लेकिन यह अपना मकसद हासिल करने में नाकाम साबित हुआ है।

व्यापार ने जलवायु को पीछे छोड़ दिया जबकि उत्सर्जन नियंत्रण पर उपभोग भारी पड़ गया। आर्थिक भूमंडलीकरण की सफलता उत्सर्जन स्तर में बढ़ोतरी के रूप में दिखने लगी। समृद्ध देशों ने कार्बन डाई ऑक्साइड का उत्सर्जन करने वाले उत्पादों का इस्तेमाल कम नहीं किया बल्कि उलटा ही इन देशों का उत्सर्जन स्तर बढ़ गया। इसका नतीजा यह हुआ है कि हमारी धरती एक जलते तवे की तरह हाती जा रही है।

वैज्ञानिकों के अनुसार जलवायु परिवर्तन का मुख्य कारण कार्बन का उत्सर्जन है। अमरीका चीन के बाद सबसे अधिक कार्बन उत्सर्जित करता है। रिपोर्ट में कार्बन उत्सर्जन को 2050 तक शून्य करने के लिए कहा गया है परन्तु क्या पूँजीवादी व्यवस्था में यह सम्भव है? कार्बन उत्सर्जन को कम करने के लिए कई अन्तरराष्ट्रीय वार्ताएँ की गयी। क्वेटो प्रोटोकॉल के तहत यह कानून बनाया गया कि औद्योगिक देशों को ग्रीन हॉउस गैसों के उत्सर्जन में 2008-2012 तक 5.2 फीसदी कमी करनी है जिसमें से यूरोपीय संघ को 8 फीसदी, अमरीका को सात फीसदी और जापान को सात फीसदी कमी लानी थी। साम्राज्यवादी देशों ने कार्बन उत्सर्जन में कटौती से बचने के लिए उत्सर्जन परमिट की अदला-बदली करने का नया तरीका सुझाया जिसका मुख्य उद्देश्य था-- अमीर देशों के उत्सर्जन को बरकरार रखना। अमरीका हमेशा कार्बन उत्सर्जन में कटौती करने से बचता रहा है। 2007 में बाली सम्मेलन में अमरीका ने क्वेटो प्रोटोकॉल के लक्ष्य को गिराकर उत्सर्जन कटौती की समय सीमा को बढ़ाकर 2012 से 2020 तक करने और न्यूनतम तापमान औद्योगिक क्रान्ति के स्तर से दो डिग्री तक अधिक रखने का सुझाव दिया। 2009 में कोपेनहेगेन सम्मेलन में भी अमरीका और उसके पिछलग्गू देश बेहद षड़यंत्रकारी तरीके से अपने आप को उत्सर्जन कटौती से बचाने में सफल हो गये। उत्सर्जन में कटौती के लिए उठाये जाने वाले कदमों को लेकर सारी दुनिया लुकाछिपी खेल रही है। उत्सर्जन स्तर में कटौती सम्बन्धी वैश्विक समझौतों को इस प्रकार तैयार किया गया है कि वे जलवायु परिवर्तन को नकार रहे हैं। जब भी कोई रिपोर्ट अमरीका के हितों से टकराती है अमरीका या तो उसमें बदलाव करवा देता है या उसे मानने से इनकार कर देता है। अमरीका ने जलवायु परिवर्तन समझौते को इस तरह लिखने के लिए बाध्य कर दिया कि उसके लक्ष्य वैज्ञानिक मानकों पर न होकर स्वैच्छिक कदमों पर आधारित थे। हरेक देश को अपने हिसाब से लक्ष्य तय करने की छूट दी गयी। इससे आवश्यक कदम उठाने में कमजोरी आयी। ऐसा लगता नहीं है कि धरती के तापमान में बढ़ोतरी को 2 डिग्री सेल्सियस के भीतर भी सीमित रखा जा सकेगा, 1.5 डिग्री सेल्सियस तो बहुत दूर की बात है। पेरिस समझौते ने बुनियादी तौर पर देशों की जवाबदेही को बहुत कम कर दिया है। यह समझौता अमरीकी सरकार को खुश करने के लिए किया गया था।

सच्चाई यही है कि अमरीका और अन्य साम्राज्यवादी देश मिलकर ऐसी नीतियाँ बनवाने में सफल हो जाते हैं जो उनके हित में हो। ये देश किसी भी कीमत पर अपने मुनाफे में कमी नहीं आने देना चाहते हैं। दुनिया में सबसे अधिक कार्बन उत्सर्जन चीन करता है जो 2015 में कुल वैश्विक उत्सर्जन का 29.51 प्रतिशत था। अमरीका 14.34 प्रतिशत के साथ दूसरे स्थान पर तथा भारत 6.81 प्रतिशत के साथ चौथे स्थान पर था। लेकिन चीन और भारत की जनसंख्या बहुत अधिक है, लिहाजा 2015 में चीन का प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन 7.7 टन और भारत का 1.9 टन सालाना था। इस हिसाब से दुनिया के इन तीन शीर्ष देशों में उत्सर्जन कम करने में अमरीका की जिम्मेदारी अधिक बनती है। लेकिन अमरीका कार्बन उत्सर्जन को कम नहीं करना चाहता क्योंकि ऐसा करने से उसके मुनाफे में कमी आ जायेगी। बाली सम्मलेन से पहले अमरीका के येल विश्वविद्यालय ने एक सर्वे कराया था, जिसमें 68 प्रतिशत अमरीकी नागरिकों ने इस राय से सहमति जताई थी कि अमरीका वर्ष 2050 तक कार्बन उत्सर्जन में 90 प्रतिशत तक की कटौती करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय संधि पर हस्ताक्षर करे। फिर भी अमरीकी सरकार ने ऐसा नहीं किया क्योंकि अमरीकी सरकार बहुराष्ट्रीय एकाधिकारी पूँजीपतियों के लिए काम करती है जो पृथ्वी को तबाही की ओर ले जा रहे हैं। वे केवल अपने मुनाफे के बारे में सोचते हैं। वे अपने मुनाफे की हवस में इतने अँधे हो गये हैं कि पर्यावरण की समस्या मानने से भी इनकार कर रहे हैं। अमरीका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प भी जलवायु परिवर्तन की समस्या से ही इनकार कर रहे हैं। उनका कहना है कि अमरीका को और अधिक कोयला खनन करने और बिजली सयंत्र बनाने की जरूरत है ताकि उत्पादन को और अधिक बढ़ाया जा सके। ऐसे में अमरीका से ये उम्मीद करना कि वह जलवायु परिवर्तन की समस्या के बारे में गम्भीरता से सोचेगा मूर्खता होगी। यदि दुनिया अमरीका के रास्ते पर चली तो ग्रीन हॉउस गैसों का उत्पादन और बढ़ेगा जिसका असर दुनिया की उस भोली-भाली गरीब जनता पर पड़ेगा जो इस सबके लिए जिम्मेदार भी नहीं है और उससे बचने का उसके पास कोई उपाय भी नहीं है।

पर्यावरण

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को रोको नहीं तो दुनिया प्लास्टिक के ढेर में बदल जायेगी

--सन्देश कुमार

आज पीने के पानी से लेकर हमारे शरीर तक में प्लास्टिक के कणों की भारी संख्या में मौजूदगी हमारे लिए गम्भीर खतरा बनती जा रही है। दूध-दही, चीनी, शहद से लेकर अन्य खाद्य सामान प्लास्टिक के पैकेट में पैक होकर आ रहे हैं, जिनमें भारी संख्या में प्लास्टिक के कणों की मौजूदगी से सम्पूर्ण जीवन चक्र संकट में है। खाद्य पदार्थों और पानी के माध्यम से ये प्लास्टिक के कण हमारे शरीर में चले जाते हैं जो कैंसर सहित और अन्य घातक बीमारियों को जन्म दे रहें हैं। प्लास्टिक कचरे के बारे में हमें सचेत हो जाना चाहिए क्योंकि आज हमारी जमीन, नदियाँ और समुद्र प्लास्टिक कचरे के ढेर से पटते जा रहे हैं।

प्लास्टिक कचरे की मौजूदगी हमारे परिस्थितिकीय तंत्र के सन्तुलन को बिगाड़ रही है। अन्तरराष्ट्रीय पर्यावरण कानून के मुताबिक पिछले 10 सालों में प्लास्टिक कचरे का उत्पादन 40 प्रतिशत बढ़ गया है। प्लास्टिक कचरे के उत्पादन की दर में ये वृद्धि आने वाले सालों में गम्भीर खतरा बन जायेगी।

पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय के अनुसार भारत में प्रतिदिन 25,490 टन प्लास्टिक कचरा निकलता है। जिसमें से 15000 टन कचरे का ही प्रतिदिन एकत्रीकरण और पुनःनवीनीकरण हो पाता है। शेष कचरा (40 फीसदी) जमीन पर कूड़े का ढेर बनता है या फिर नालियों को जाम करता है। नदियों से होता हुआ महासागरों में चला जाता है।

जर्मनी के हेमहोल्ज सेंटर फॉर एनवायरमेंटल रिसर्च की ताजा रिपोर्ट के मुताबिक समुद्र के कुल प्लास्टिक कचरे का 90 फीसद एशिया और अफ्रीका की दस नदियों से आता है। इसमें पहले और दूसरे स्थान पर क्रमशः चीन की याँग्त्सी और भारत की सिंधु नदी है। प्लास्टिक कचरे को ढोने की दस बड़ी नदियों की सूची में गंगा नदी 6वें स्थान पर है। इस रिपोर्ट के मुताबिक गंगा नदी हर साल 5.44 लाख टन प्लास्टिक कचरा बंगाल की खाड़ी में डालती है। जबकि पहले स्थान पर चीन की याँग्त्सी नदी है जो सालाना 15 लाख टन प्लास्टिक अपने महासागरों में उड़ेल देती है।

ब्रांडेड प्लास्टिक कचरा आज विश्व के लिए गम्भीर समस्या का रूप ले चुका है। ग्रीनपीस की हालिया रिपोर्ट में बताया गया कि वैश्विक स्तर पर सबसे ज्यादा प्लास्टिक कचरा फैलाने में दुनिया की बड़ी माल उत्पादक ब्रांडेड बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ शीर्ष पर है जिनमें कोका-कोला, पेप्सिको और नेस्ले, डेनोन, मोंडेलेज इंटरनेशनल, प्रोक्टर एंड गैंबल, यूनिलीवर, पेर्फेटी वैन मेलले, मार्स, और कोलगेट-पामोलिव शामिल हैं। इनमे से शीर्ष तीन कम्पनियाँ (कोका कोला, पेप्सिको और नेस्ले,) ही अकेले कुल प्लास्टिक कचरे का 14 प्रतिशत प्लास्टिक कचरा फैलाती हैं। दुनिया की सबसे बड़ी सॉफ्ट ड्रिंक बनाने वाली कम्पनी कोका-कोला सबसे ज्यादा प्लास्टिक कचरा पैदा करने वाली कम्पनी है। साफ है कि जितनी बड़ी उपभोक्ता माल उत्पादक कम्पनी उतनी ही बडी कचरा उत्पादक कम्पनी।

ब्रांडेड कम्पनियाँ अपने उत्पादों की पैकेजिंग और लेबलिंग के लिए भारी पैमाने पर प्लास्टिक का इस्तेमाल करती हैं। इन कम्पनियों द्वारा इस्तेमाल कुल प्लास्टिक कचरे के केवल 9 प्रतिशत भाग का ही पूनर्नवीनीकरण हो पता है। जबकि शेष बचे भाग को जला दिया जाता है या जमीन पर कूडे के ढ़ेर के रूप में एकत्रित होता रहता है या फिर नदियों के रास्ते महासागरों में पहुँच जाता है।

बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों के बाजार अपने उत्पादों के उत्पादन और बिक्री के लिए चुनते हैं। क्योंकि विकाशशील देशों में इन कम्पनियों को सस्ता श्रम और लचीला पर्यावरण कानून मिलता है। पश्चिमी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सस्ते मैनुफेक्चुरिंग और अत्यधिक मुनाफा कमाने को सदैव लालायित रहती हैं। जिसके चलते यह ब्रांडेड बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने उत्पादों के लिए सस्ता और एक बार उपयोग होने वाले प्लास्टिक का उपयोग करती हैं। जिससे ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जबर्दस्त मुनाफा बटोरती हैं। विकसित देशों की यह कम्पनियाँ आज विकासशील देशों की जमीन, नदियों और महासागरों को अपने मुनाफे के चक्कर में आगामी सैकड़ों सालों के लिए दूषित कर रहीं है। हालत ऐसे ही रहें तो हमारी कई पीढ़ियाँ इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा फैलाये गये प्लास्टिक कचरे के बोझ से उबर नहीं पाएगी।

बीबीसी की रिपोर्ट के अनुसार 34 समुद्री पक्षियों में से 74 प्रतिशत समुद्री पक्षियों में प्लास्टिक कचरे का अवशेष पाया गया। फोएकी के मुताबिक महासागरों में पाये जाने वाले प्लास्टिक से हर साल 1,00,000 से ज्यादा जलीय स्तनधारियों की मौत हो जाती है। जबकि 86 प्रतिशत कछुए इन प्लास्टिक को निगल लेते हैं। अगर इसी तरह से ब्रांडेड कचरा नदियों और समुद्रों में डंप किया जाता रहेगा तो समुद्र में

पाये जाने वाली विभिन्न प्रजातियों के जीवों के अस्तित्व पर खतरा और गम्भीर हो जायेगा।

ग्रीन पीस की रिपोर्ट के मुताबिक महासागरों में पाये जाने वाले प्लास्टिक कचरे में एकल उपयोग प्लास्टिक का कचरा विभिन्न उत्पादों की पन्नियाँ, पानी की बोतलें, काफी के कप, स्ट्रा, प्लास्टिक बैग और बोतलों के ढक्कन बड़े पैमाने पर पाये गये। फोएकी के मुताबिक एकल उपयोग प्लास्टिक के विघटन में लगभग 100-500 सालों का समय लगता है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ ज्यादा मुनाफा और कम से कम लागत मूल्य आये इसलिए ज्यादा से ज्यादा एकल उपयोग प्लास्टिक का इस्तेमाल करती हैं।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और निगमों के मुनाफे में सरकारों का भी बड़ा हिस्सा होता है। जिसके चलते विकासशील देशों कि सरकारें इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपने यहाँ न सिर्फ न्योता देती है बल्कि इन कम्पनियों के लिए श्रम कानूनों और पर्यावरण मानकों को ढीला करती हैं। ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ यहाँ के श्रम और प्राकृतिक स्रोतों का जबर्दस्त तरीके से दोहन कर अपना माल बनाती हैं और यहाँ की जनता से मुनाफा निचोड़ती हैं। साथ ही इससे उत्पन्न कचरे से वहाँ की जमीन, नदियों और महासागरों को दूषित करती हैं। आज ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विकसशील देशों को अपना डस्टबीन बनायें हुए हैं। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा फैलाये गये कचरे से होने वाली बीमारियों का खामियाजा विकासशील देशों की जनता को पीढ़ी दर पीढ़ी भुगतना पड़ रहा है।

अन्तरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय पर्यावरण मानकों को ताक पर रखकर ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ फलफूल रहीं हैं। सरकारें इनकी सहायक हैं। ऐसे में विकसित और विकासशील देशों की जनता के सचेतन प्रयास से ही हम पृथ्वी को इन दैत्याकार कम्पनियों के प्रदूषण से बचा सकते हैं। पर्यावरण का संकट आज सम्पूर्ण मानवता और मानवजाति के अस्तित्व का संकट है। इसे सम्पूर्ण जनता के जुझारू और सचेतन प्रयासों से ही हल किया जा सकता है।

नोटबन्दी : विफलता और त्रासदी की दास्तान

--सीमा श्रीवास्तव

आठ नवम्बर को नोटबन्दी की दूसरी बरसी पर अब ये भी साफ हो गया है कि रिजर्व बैंक के अधिकारियों ने मोदी सरकार को इसकी विफलता के बारे में पहले ही बता दिया था। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने दो साल पहले 8 नवम्बर को रात 8 बजे बड़े-बड़े दावों के साथ जब टेलीविजन पर नोटबन्दी की घोषणा की थी तो इसके साफ-साफ दो लक्ष्य बताये थे, पहला, काले धन का खात्मा और दूसरा, नकली नोटों का सफाया। सरकार ने इसका प्रचार कालेधन के खिलाफ 'सर्जिकल स्ट्राइक' कहकर किया। मोदी सरकार के ये दोनों दावे किस कदर भोथरे साबित हुए, यह बात तो नोटबन्दी लागू होने के कुछ ही दिनों बाद समझ आने लगी थी।

अब भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) के केन्द्रीय बोर्ड की 561वीं बैठक के मिनट्स भी सामने आ गये हैं। 'इंडियन एक्सप्रेस' में प्रकाशित खबर के अनुसार यह बैठक नरेन्द्र मोदी के नोटबन्दी की घोषणा से करीब साढ़े तीन घण्टे पहले हुई थी। इस बैठक में बोर्ड ने सरकार के नोटबन्दी के फैसले को सहमति तो दे दी थी, लेकिन इस बात को पूरी तरह से खारिज कर दिया था कि इससे काले धन पर किसी तरह का कोई प्रहार होने वाला है। बोर्ड ने इस बात को भी नकार दिया था कि प्रचलित नकली नोटों पर भी इस नोटबन्दी का कोई असर होने वाला है। बोर्ड के निदेशक का कहना था कि अधिकांश काला धन नकदी की शक्ल में है ही नहीं। बल्कि ज्यादातर काला धन तो रियल एस्टेट, शेयर बाजार, स्वर्ण आदि के रूप में है। खुद आयकर विभाग के आँकड़ों के अनुसार भी कैश में काला धन 6 फीसदी से भी कम है। बोर्ड का कहना था कि एक अनुमान के मुताबिक परिचलन में नकली नोटों के मात्र करीब 400 करोड़ रुपये नकली नोट हैं, जो कुल प्रचलित करीब 18,03,700 करोड़ नोटों का बेहद मामूली सा हिस्सा है। अगर प्रतिशत में इसे देखा जाये तो यह मात्र 0. 02 प्रतिशत ही बैठता है। बोर्ड की बैठक के मिनट्स बताते हैं कि निदेशकों ने सरकार को चेताया था कि नोटबन्दी का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) पर नकारात्मक असर पड़ेगा।

बोर्ड ने इस बात की भी चेतावनी दी थी कि 500 और 1000 के नोटों को गैरकानूनी घोषित करने का नकारात्मक असर विशेषकर दो क्षेत्रों स्वास्थ्य और पर्यटन पर पड़ेगा। निदेशकों का कहना था कि घरेलू पर्यटक आमतौर पर 500 और 1000 के नोट लेकर चलते हैं। अचानक नोटबन्दी के बाद लोग जब रेलवे स्टेशनों और हवाई अड्डों पर पहुँचेंगे तो उन्हें बेहद कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। टैक्सी ड्राइवर और कुली को देने के लिए उनके पास मौजूद रकम गैरकानूनी हो चुकी होगी। निदेशकों ने नोटबन्दी से होने वाली परेशानियों और अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का लगने की बात 6 मुख्य बिन्दुओं में सरकार को बता दी थी। बावजूद इसके, रिजर्व बैंक की चेतावनियों को दरकिनार कर प्रधानमंत्री मोदी ने हठधर्मिता अपनाते हुए नोटबन्दी का तुगलकी फरमान जारी कर दिया।

नोटबन्दी के बारे में सरकार का दावा था कि बड़े नोटों के रूप में मौजूद करीब 3 से 4 लाख करोड़ रुपये का काला धन बैंकों में वापस नहीं आयेगा। सर्वोच्च न्यायालय के सामने भी सरकार के अटार्नी जनरल ने नोटबन्दी के पक्ष में दलील देते हुए ऐसा ही कहा था। लेकिन बैंकों में 99 फीसदी से ज्यादा रुपया वापस आ गया, तो सरकार का यह दावा भी खोखला साबित हुआ। नोटबन्दी लागू होने के करीब दो साल बाद, इस वर्ष अगस्त में जारी भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट में बताया गया है कि नोटबन्दी से पहले 15.417 लाख करोड़ की कीमत के 500 और 1000 के नोट प्रचलन में थे। नोटबन्दी के बाद 15.31 लाख करोड़ रुपये के 500 और 1000 के नोट बैंकों में वापस आ चुके हैं, जो कुल नोटों का 99.3 फीसदी है। शेष बचे नोटों के बारे में पूर्व वित्त मंत्री पी चिदम्बरन का कहना है कि यह भारतीय मुद्रा नेपाल और भूटान में इस्तेमाल की जा रही थी, जो भारतीय बैंकों तक नहीं पहुँच सकी। इसके अलावा शेष बचे रुपयों का कुछ हिस्सा या तो खो गया या नष्ट हो गया।

जब नोटबन्दी की गयी थी तो इसके असफल होने के आसार पहले दिन से ही नजर आने लगे थे। तब सरकार की ओर से तरह-तरह के अन्य हास्यास्पद दावे किये जाने लगे। जैसे 500 और 1000 के बड़े नोटों से रिश्वत देना आसान होता है, इनके बन्द होने से रिश्वत देना आसान नहीं रह जायेगा। लेकिन सरकार इसकी काट में 500 के साथ 2000 रुपये का नोट ले आयी। एक दावा यह भी था कि इससे कश्मीर में आतंकवाद की कमर टूट जायेगी। लेकिन नोटबन्दी के बाद भी कश्मीर में लगातार आतंकी गतिविधियाँ जारी हैं और फौजियों के मरने का सिलसिला जारी है। नोटबन्दी के बाद से अब तक 127 से ज्यादा फौजी और 100 के करीब आम नागरिक अपनी जान गँवा चुके हैं। नोटबन्दी की विफलता को देखते हुए सरकार का एक सबसे बड़ा दावा था कि डिजिटलीकरण करना नोटबन्दी का मुख्य उद्देश्य है। जब नोटबन्दी हुई थी तो लोगों ने मजबूरी में भुगतान के लिए जरूर डिजिटल तरीकों का सहारा लिया। लेकिन अब जब बाजार में नकदी सामान्य है तो आदान-प्रदान के लिए लोग फिर नकदी का इस्तेमाल कर रहे हैं। हालत यह है कि नोटबन्दी से पहले जो दुकानदार, ब्यूटी पार्लर संचालक या अन्य सेवाओं में डेबिट या क्रेडिट कार्ड से पेमेंट ले लेते थे, अब वह इससे इनकार करते हैं। इनका साफ कहना है कि जहाँ इन्हें इन सेवाओं के बदले बैंकों को भारी फीस चुकानी पड़ती है, वहीं जीएसटी के तौर पर लगाये गये टैक्स दुकानदार और उपभोक्ता दोनों की कमर तोड़ रहे हैं। तथ्य तो यह है कि नोटबन्दी से पहले जितनी मुद्रा परिचालन में थी, अब उससे 10 प्रतिशत ज्यादा मुद्रा चलन में है। यानी सरकार का डिजिटलीकरण का दावा भी पूरी तरह हवा-हवाई हो गया है।

अब जब लगभग सारा ही रुपया बैंकों में वापस आ गया तो सरकार ने कहना शुरू कर दिया कि यही तो हम चाहते थे। सरकार ने कहा कि जिन लोगों ने बहुत ज्यादा धन बैंकों में जमा कराया है, अब उनकी जाँच की जायेगी। जिन बैंक खातों में 5 लाख से ज्यादा रुपया जमा कराया गया है, उन्हें नोटिस भेजे गये हैं। ऐसे करीब 18 लाख नोटिस जारी किये गये हैं। इस बाबत प्रख्यात अर्थशास्त्री और 'डिमोनेटाइजेशन एंड ब्लैक इकोनॉमी' के लेखक अरुण कुमार ने 'इंडियन एक्सप्रेस' समाचारपत्र में प्रकाशित अपने लेख में कहा है कि "यह एक भ्रांति है कि अगर नकदी है तो काला धन ही होगा। बिजनेस के लिए बतौर चालू पूँजी नकदी की जरूरत होती है। साथ ही लोग भी लेन-देन और वक्त पर जरूरत के लिए कुछ नकदी घर में रखते हैं।" उनका कहना है कि नोटबन्दी के 50 दिनों के दौरान, एक पेट्रोल स्टेशन प्रतिदिन अर्जित होने वाले धन के आधार पर 20 करोड़ रुपये तक जमा करा सकता था। तो यह धन, काला धन नहीं है। इसी तरह बड़ी मात्रा में धन जमा कराने वाले लोग अपनी बैलेंस शीट में यह धन दिखा सकते थे। इसलिए आयकर विभाग के लिए यह साबित करना बहुत मुश्किल होगा कि जमा किया गया धन काला है। उनका कहना है कि आयकर विभाग के जो आँकड़े हैं, वह यह दिखाते हैं कि विभाग के पास लाखों की संख्या में बैंकखातों की जाँच करने की क्षमता ही नहीं है।

सरकार के इन दावों को भी विशेषज्ञों ने खारिज कर दिया है कि टैक्स देने वालों की संख्या बढ़ी है। विशेषज्ञों का मानना है कि रिटर्न फाइल करने वालों की संख्या में इजाफा जरूर हुआ है, लेकिन जीडीपी में प्रत्यक्ष कर बमुश्किल ही बढ़ा है। अर्थशास्त्री अरुण कुमार का कहना है कि ब्लैक इकॉनोमी जीडीपी की 60 फीसदी से ज्यादा है। यदि इसका 10 प्रतिशत भी टैक्स नेट के दायरे में आता है तो अतिरिक्त कर संग्रह के कारण जीडीपी में 2 फीसदी का इजाफा होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसलिए सरकार का यह दावा कि टैक्स देने वालों की संख्या बढ़ी है, आँकड़ेबाजी के अलावा और कुछ नहीं है। नोटबन्दी लागू करने पर सरकार का लक्ष्य परिचलन में जारी नकली नोटों को समाप्त करना था। लेकिन सरकार का यह दावा भी पूरी तरह विफल साबित हुआ है। हकीकत यह है कि 500 और 2000 के नये नोट जारी करने के कुछ दिनों बाद ही, नकली नोट एटीएम मशीनों से भी मिलने शुरू हो गये थे। वित्त मंत्रालय के अन्तर्गत कार्यरत वित्तीय इकाई (एफआईयू) की रिपोर्ट के अनुसार नोटबन्दी के बाद देश भर के बैंकों में नकली नोट पहुँचने के मामले सबसे ज्यादा पाये गये हैं। इतनी भारी संख्या में नकली नोट बैंकों में अभी तक नहीं पहुँचे थे। एफआईयू के अनुसार वर्ष 2015-16 में 4.10 लाख नकली नोट बैंकों में पहुँचे

थे। जबकि नोटबन्दी के बाद 2016-17 में बैंकों में 7.33 लाख नकली नोट बैंकों में पहुँचे। यानी नोटबन्दी के बाद बैंकों में पहुँचने वाले नकली नोटों की संख्या में 3. 22 लाख का इजाफा हुआ। ये आँकड़े तो खुद सरकार की एजेंसी ने दिये हैं और ये वे मामले हैं, जो पकड़ में आये हैं। इसका मतलब नोटबन्दी के बाद परिचालन में नकली नोटों की संख्या में 79 फीसदी की बढ़ोत्तरी हुई है।

रिजर्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट 2016-17 में भी नकली नोटों को लेकर यही तथ्य दोहराये गये हैं। रिपोर्ट बताती है कि "रिजर्व बैंक के करेंसी वेरिफिकेशन एंड प्रोसेसिंग सिस्टम के अनुसार 2015-16 के दौरान 500 रुपये के हर 10 लाख नोटों पर 2.4 नोट नकली थे और 1000 रुपये के हर 10 लाख नोटों पर 5.8 नोट नकली थे। नोटबन्दी के बाद यह संख्या 5.5 नोट और 12.4 नोट तक बढ़ गयी"। लेकिन इसे हद दर्जे की बेशरमी ही कहा जायेगा कि बावजूद इसके सरकार नोटबन्दी को सफल बता रही है। सरकार की इसी यूनिट ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि नोटबन्दी के बाद सन्देह के दायरे में आने वाले लेन-देन के मामलों में भी 480 प्रतिशत का उछाल आया है। बावजूद इसके मोदी सरकार भले ही इन सब तथ्यों को नकार रही हो और अपनी भारी और अभूतपूर्व विफलता को छिपाने के लिए नये कुतर्क गढ़ रही हो लेकिन नोटबन्दी की व्यापक और चहुँओर विफलता की दास्तान कहते आँकड़े हर रोज सामने आ रहे हैं।

नोटबन्दी लागू करने से लेकर अब तक सरकार का रवैया बेहद गैर जिम्मेदाराना और क्रूरतापूर्ण रहा है। हफ्तों लोग अपार कष्ट झेलते हुए अपने खून-पसीने की गाढ़ी कमाई के गैरकानूनी ठहरा दिये गये नोटों को बदलने के लिए बैंकों के आगे लगे रहे। फिर नये नोट पाने के लिए महीनों बैंकों और एटीएम के सामने लाइनों में लगे रहे। बावजूद इसके बैंकों और एटीएम मशीनों के आगे 'नो कैश' की तख्तियाँ लटकती रही। समूचा देश कुछ महीनों के लिए जैसे ठहर सा गया और लाइनों में लगा दिया गया। इस दौरान 100 से ज्यादा लोगों को लाइन में लगे-लगे ही अपनी जान गँवानी पड़ी। अनेक गरीब लोग अपनी छोटी-मोटी बचत को खाक में मिलता देख बर्दाश्त नहीं कर सके और उन्होंने आत्महत्या कर ली। हजारों उद्योग-धन्धे चौपट हो गये। लाखों कामगार नौकरियाँ छिन जाने के कारण अपने गाँवों को वापस लौट गये। सेंटर फॉर मॉनीटरिंग ऑफ इंडियन इकोनॉमी की हाल ही में जारी रिपोर्ट के अनुसार नोटबन्दी के कारण 35 लाख से ज्यादा नौकरियाँ समाप्त हो गयीं। करीब 1.5 करोड़ मजदूरों से उनका रोजगार छिन गया। इसका सबसे ज्यादा बुरा असर महिला श्रमिकों पर पड़ा। नोटबन्दी के बाद कुछ हफ्तों तक 15 करोड़ दैनिक वेतन भोगी श्रमिकों को अपनी आजीविका से हाथ धोना पड़ा।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसका बेहद बुरा असर पड़ा और जीडीपी में 1.5 प्रतिशत का नुकसान हुआ। इसका मतलब यह है कि सिर्फ इस कारण से ही देश को एक साल में 2.22 लाख करोड़ रुपये गँवाने पड़े। जब नोटबन्दी की मार से पूरा देश कराह रहा था तो नरेन्द्र मोदी ने घड़ियाली आँसू बहाते हुए सब कुछ दुरुस्त करने के लिए देशवासियों से 50 दिन माँगें और कहा कि यदि इसके बाद ठीक नहीं हुआ तो उसे जिस चौराहे पर चाहे लटका कर फाँसी दे दें। तब से लेकर आज तक कुछ भी ठीक नहीं हुआ और नरेन्द्र मोदी ने एक बार फिर अपने वादे को लेकर मुँह में ताला लगा लिया। यह फैसला किस कदर बिना तैयारी के और अचानक लिया गया था, इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि नोटबन्दी के 50 दिनों के अन्दर ही रिजर्व बैंक ने इसे लेकर 66 से ज्यादा नोटिस और घोषणाएँ जारी कीं। यानी नोटबन्दी को लेकर रिजर्व बैंक इस कदर असमंजस में था कि वह यह तय ही नहीं कर पा रहा था कि उसे करना क्या है। ये बात तो अब भी समझ से परे है कि आखिर किसको फायदा पहुँचाने के लिए नोटबन्दी की गयी। ये कोई सनक भरा फैसला था या देश और देश की जनता के साथ कोई भयानक षड़यंत्र, इसका जवाब देश को चाहिए। इस दौरान जनता ने जो अपार कष्ट झेले हैं और झेल रही है, इसकी जवाबदेही तय होनी चाहिए।

व्यवस्था

...कि वह कम्प्यूटर प्रोग्राम जो बैंकर को सतर्क करता है, बैंकर जो राजदूत को सचेत करता है, राजदूत जो फौजी जनरल के साथ खाना खाता है, फौजी जनरल जो राष्ट्रपति को मिलने के लिए बुलाता है, राष्ट्रपति जो मंत्री पर रोब दिखाता है, मंत्री जो महानिदेशक को धमकी देता है, महानिदेशक जो प्रबन्धक को जलील करता है, प्रबन्धक जो अफसर पर चीखता है, अफसर जो कर्मचारियों की तौहीन करते हैं, कर्मचारी जो मजदूरों को फटकारते हैं, मजदूर जो अपनी बीवी से बदसलूकी करते हैं, बीवियाँ जो बच्चे को पीटती हैं, बच्चे जो कुत्तों को लात मारते हैं।

-एदुआर्दो गालेआनो

जर्मनी में नाजी शासन और आइन्स्टीन

--बी कुजनेत्सोव

18वीं शताब्दी के महान तर्कवादियों ने इस बात का प्रयास किया कि प्रकृति के वस्तुगत औचित्य की तलाश की जाये और उन्होंने पाया कि इसका सरोकार सार्वभौमिक तौर पर कारण-कार्य सम्बन्धों में है-- उस नियतिवाद में है जिससे प्रकृति की परिघटना संचालित होती है। लेकिन वे इससे और आगे गये और उन्होंने यह माँग रखी कि मानव समुदाय के क्रियाकलाप भी तर्क और विचार से और इस प्रकार अधिकार और न्याय से संचालित हों। उन्होंने तर्कहीनता के समूचे भंडार पर प्रहार किया, रूढ़ियों के प्रति अंधभक्ति, इसमें निहित असहिष्णुता और इसकी उन दलीलों का विरोध किया जो तर्क और विचार के खिलाफ सामने आती हैं।

1930 के दशक में अतार्किकता का दैत्य अपने वीभत्स रूप में सामने आया। इसका मुख्य लक्ष्य बदले की भावना से तर्क के खिलाफ आवाज उठाना था। हिटलर के कार्यक्रमों का एक हिस्सा विज्ञान के वस्तुगत और तार्किक मानकों को ध्वस्त करना था। उसका मानना था कि विज्ञान को प्रयोगों के जरिये नहीं बल्कि अनुभव के अनुरूप मानसिक बनावट के आधार पर आगे बढ़ना चाहिए। इसे तानाशाह की इच्छा और उसके द्वारा निर्धारित मानदंडों का पालन करते हुए काम करना चाहिए। इसके लिए उसने जो बुनियादी मानक तय किया उसके पीछे वैज्ञानिक अवधारणा की नस्ली पृष्ठभूमि थी। समग्र रूप से देखें तो सिद्धान्तगत आधार पर की जाने वाली सोच इस मानक को पूरा नहीं करती थी। जैसा कि नाजी पार्टी के शिक्षामंत्री बर्नहार्ड रस्ट ने ऐलान किया वह ध्यान देने योग्य है "राष्ट्रीय समाजवाद विज्ञान का नहीं बल्कि इसके सिद्धान्तों का दुश्मन है।"

सापेक्षता के सिद्धान्त के पीछे जो तार्किक अवधारणा है वह स्थूल जगत के वस्तुगत यथार्थ के विश्वास पर ठोस रूप से आधारित है और यह नाजी विचारों के लिए एक घृणास्पद अवधारणा थी। उस समय के दो वैज्ञानिकों लेनॉर्ड और स्टॉर्क ने फौरन ही सापेक्षता के सिद्धान्त और आइन्स्टीन पर बदले की भावना से हमला किया। 1933 में लेनॉर्ड ने 'फेल्किस बोउवख्तर' नामक पत्रिका में लिखा--

"प्रकृति के अध्ययन में यहूदियों के सबसे खतरनाक प्रभाव का उत्कृष्ठ उदाहरण आइनस्टीन ने गणित के अपने ऐसे ऊल-जुलूल सिद्धान्तों से प्रस्तुत किया है जिसमें कुछ प्राचीन ज्ञान और मनमाने ढंग से जोड़-तोड़ का सहारा लिया गया है। उनके इस सिद्धान्त को आज चूर-चूर कर दिया गया। प्रकृति से विरक्त सभी उत्पादों के साथ ऐसा ही होता है। यहाँ तक कि वे वैज्ञानिक भी, जिन्होंने दूसरे काम किये हैं, इस कलंक से नहीं बच सकते कि उन्होंने सापेक्षता के सिद्धान्त को जर्मनी में स्थापित होने में मदद पहुँचायी। वे यह नहीं देख सके या वे यह देखना नहीं चाहते थे कि विज्ञान के क्षेत्र से बाहर भी इस यहूदी को एक अच्छा जर्मन नागरिक मान लेना कितना गलत है।"

दो वर्ष बाद भौतिक शास्त्र की एक संस्था के उद्घाटन समारोह में बोलते हुए लेनॉर्ड ने कहा--

"मैं उम्मीद करता हूँ कि यह संस्थान विज्ञान के क्षेत्र में एशियाई विचारधारा के खिलाफ युद्ध का शंखनाद करेगा। हमारे फ्यूरर (हिटलर) ने राजनीति और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में इस विचार को पूरी तरह समाप्त कर दिया है जिसे मार्क्सवाद के रूप में जाना जाता है। लेकिन प्रकृति विज्ञान में आइन्स्टीन को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देने की वजह से इस विचारधारा का अभी भी बोलबाला बना हुआ है। हमें अच्छी तरह यह समझ लेना चाहिए कि किसी जर्मन के लिए किसी यहूदी का बौद्धिक अनुयायी बनना अत्यन्त घृणित काम है। प्रकृति विज्ञान पूरी तरह आर्यों के मूल से निकला है और आज जर्मन लोगों को भी अज्ञात की तलाश में अपना खुद का रास्ता ढूँढना होगा।"

सापेक्षता के सिद्धान्त की नस्लगत विसंगतियों के प्रमाण जुटाये गये और इसके रचयिता की नस्ली पृष्ठभूमि पर गौर किया गया। यह माना गया कि इसका 'आर्यन भौतिक शास्त्र' से कोई मतलब नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि व्यवहार में भी विज्ञान के शुद्धिकरण का नाजियों द्वारा चलाया गया कार्यक्रम केवल विज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि वैज्ञानिकों के माता-पिता और दादा-दादी की पृष्ठभूमि तक गया और इस बात पर गौर किया गया कि उनका नस्ल के आधार पर अपने नीच सहकर्मियों के साथ कितना उठना-बैठना है। खुशकिस्मती की बात है कि जब पूरी तैयारी के साथ जर्मनी के विश्वविद्यालयों और विज्ञान के शुद्धिकरण का काम नाजियों ने शुरू किया उस समय तक आइन्स्टीन देश छोड़कर बाहर जा चुके थे और हिटलर की खुफिया पुलिस और उसके गुर्गों (स्टार्मट्रूपर्स) की पहुँच से बहुत दूर थे।

दरअसल 1930 से ही आइन्स्टीन कैलिफोर्निया के इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में पढ़ाने जाया करते थे। 1932 के वसन्त में जर्मनी के राष्ट्रपति के रूप में हिंडेनबर्ग के चुनाव जीतने के कुछ ही समय बाद आइन्स्टीन कैलिफोर्निया से वापस बर्लिन पहुँचे थे।

कापुथ स्थित उनके निवास में अनेक मित्रों ने हाल की घटनाओं पर बातचीत की। चर्चा का विषय था ब्रूनिंग का इस्तीफा, जर्मनी के चांसलर के रूप में पापेन की नियुक्ति और राजनीतिक परिदृश्य पर श्लेशर कर स्थापित होना। आइन्स्टीन ने गौर किया कि जिन लोगों का देश की वित्तीय पूँजी पर दबदबा है वे सत्ता में हिटलर को लाने का रास्ता तैयार कर रहे हैं। 1932 की सर्दियों में जब वह अपनी पत्नी के साथ कैलिफोर्निया के लिए रवाना हो रहे थे, तब उन्होंने घर से निकलने से पहले अपनी पत्नी से कहा "एक बार अच्छी तरह इस घर को देख लो।"

"ऐसा क्यों?" पत्नी ने पूछा।

"अब शायद तुम इसे फिर नहीं देख सकोगी।"

जब हिटलर सत्ता में आया तो उस समय तक आइन्स्टीन कैलिफोर्निया पहुँच चुके थे। 1932-33 में हिटलर की देख-रेख में जर्मन विश्वविद्यालयों के शुद्धिकरण का अभियान चलाया गया और उस समय आइन्स्टीन न्यूयार्क में थे जहाँ उन्होंने जर्मनी के राजदूत से मुलाकात की। राजदूत ने आइन्स्टीन से कहा कि जर्मनी वापस जाने में उन्हें डरना नहीं चाहिए क्योंकि हिटलर की नयी सरकार बहुत न्यायप्रिय है और सबके साथ न्याय करेगी। अगर वह बेकसूर हैं तो उनका कुछ नहीं होगा। लेकिन आइन्स्टीन ने ऐलान किया कि जब तक नाजी सरकार सत्ता में रहेगी वह जर्मनी नहीं लौटेंगे। राजदूत के साथ औपचारिक बातचीत का दौर जब समाप्त हो गया तो राजदूत ने उनसे निजी तौर पर कहा, "प्रोफेसर आइन्स्टीन, अब हम एक इनसान के रूप में एक-दूसरे से बात कर रहे हैं और मैं आपको यही कह सकता हूँ कि आप जो कुछ भी कर रहे हैं, ठीक कर रहे हैं।"

1933 के वसन्त की शुरुआत के साथ ही आइन्स्टीन यूरोप आ गये और बेल्जियम में ओस्तेन्दे से कुछ दूर समुद्र के किनारे ला कोक में एक छोटा सा मकान लेकर रहने लगे। बेल्जियम की साम्राज्ञी महारानी एलिजाबेथ की आइन्स्टीन के सिद्धान्तों में काफी दिलचस्पी थी और एक वैज्ञानिक के रूप में वह उनका बहुत सम्मान करती थीं। बेल्जियम के शाही परिवार और वहाँ की सरकार ने इस बात की पूरी सतर्कता बरती कि जर्मनी से आकर कोई आइन्स्टीन को नुकसान न पहुँचा सके। उनकी सुरक्षा के लिए सरकार ने कुछ अंगरक्षकों को तैनात कर दिया जो दिन-रात उनके मकान के इर्द-गिर्द डटे रहते थे। 1933 की गर्मियों में फिलिप फ्रैंक ने उधर से गुजरते हुए आइन्स्टीन से मिलना तय किया। वह ला कोक गया और वहाँ के लोगों से जानकारी लेनी चाही कि आइन्स्टीन कहाँ रहते हैं। अधिकारियों ने वहाँ रहने वालों को सख्त हिदायत दी थी कि वे किसी भी हालत में किसी को यह जानकारी न दें कि आइन्स्टीन कहाँ रहते हैं। फिलिप फ्रैंक की पूछताछ ने आइन्स्टीन की हिफाजत के लिए तैनात सैनिकों को सतर्क कर दिया। आखिरकार उसने आइन्स्टीन की पत्नी को ढूँढ निकाला और जब आइन्स्टीन की पत्नी ने फ्रैंक को देखा तो, जैसा कि उसने अपने एक विवरण में लिखा है, वह बेहद डर गयीं। उन्हें पहले से ही किसी ने खबर दी थी कि हिटलर ने आइन्स्टीन की हत्या के लिए किसी को रवाना किया है।

इस पैमाने पर अपनी हिफाजत की व्यवस्था देखकर आइन्स्टीन को चिढ़ होने लगी थी लेकिन जिन लोगों ने यह व्यवस्था की थी वे इसे उचित मानते थे और इसे जारी रखने के पक्ष में थे। वैज्ञानिकों की सूची में आइन्स्टीन शीर्ष स्थान पर थे और उन्हें पता था कि किसी भी समय बगल के देश जर्मनी का कोई नाजी एजेंट मुसीबत बनकर आ सकता है और यह भी उन्हें पता था कि जर्मनी में रहने वाले उनके घनिष्ठ मित्र भी उनके प्रति चिंतित रहते हैं।

बेल्जियम में समुद्र के किनारे जिस मकान में वह रहते थे उसमें उनकी पत्नी के अलावा उनकी सौतेली बेटी मार्गट और उनकी सेक्रेटरी हेलेन भी रहती थी। जर्मनी से रवाना होने से पहले मार्गट ने बड़े परिश्रम से इस बात की व्यवस्था की थी कि आइन्स्टीन के कुछ जरूरी कागजात और दस्तावेज फ्रांसीसी दूतावास की मदद से देश से बाहर पहुँचा दिये जायें।

1933 में ऐन्तोनिना वैलेंतिन ने आइन्स्टीन से उनके निवास पर मुलाकात की। बाद में उसने अपनी पुस्तक में लिखा--

"उस साल वसन्त देर से आया था। सर्दियों का धूसर आसमान बहुत दमनकारी लग रहा था। समुद्र की लहरें तट से टकरा कर वापस जा रही थीं और उनका शोर गूँज रहा था। उस छोटे से मकान में लहरों के शोर के बीच जो अन्य आवाजें थीं उसमें लोगों की पदचाप, प्लेट और तश्तरी की खड़खड़ाहट और टाइपराइटर से निकलती एक धुन थी।" एन्तोनिना ने देखा कि आइन्स्टीन शान्त मुद्रा में अपने काम में लगे थे। वह अभी भी विज्ञान की जटिलताओं को समझने में तल्लीन थे और अपने इस दुर्दिन के बारे में व्यंग्यात्मक ढंग से टिप्पणी करते थे। जब वह हँसते थे तो लगता था जैसे कोई विशाल वृक्ष अपनी शक्तिशाली शाखाओं के साथ हिल रहा हो। एन्तोनिना ने उनकी पत्नी एल्सा को जर्मनी में प्रकाशित एक एलबम दिखाया जिसमें उन लोगों की तस्वीरें लगी थीं जो नाजी सरकार के विरोधी थे। इसके पहले पृष्ठ पर ही आइन्स्टीन का फोटोग्राफ था और उनके 'अपराधों' की सूची थी जिनमें पहला अपराध 'सापेक्षता का सिद्धान्त' था। इस सूची के अन्त में एक टिप्पणी थी-- 'अभी मारा नहीं गया।'

आइन्स्टीन की पत्नी लगातार इस भय में जी रही थीं कि कहीं कोई उकसावे की कार्रवाई न हो। उन्होंने फ्रैंक को बताया था कि कुछ दिन पहले नाजी पार्टी का एक कार्यकर्ता आया था जो इस बात के लिए आमादा था कि आइन्स्टीन उससे मिलें। उसे पूरा यकीन था कि प्रवासियों का जो फासिस्ट विरोधी संगठन है उसका नेतृत्व आइन्स्टीन कर रहे हैं। उसने प्रस्ताव रखा कि उसके पास नाजी पार्टी के कुछ गुप्त दस्तावेज हैं जिन्हें वह उन्हें बेचना चाहता है। आइन्स्टीन को लगता था कि अपहरण से लेकर हत्या तक कभी भी कुछ भी उनके साथ

हो सकता है।

फ्रैंक के साथ बातचीत के दौरान आइन्स्टीन ने बताया कि बर्लिन से बाहर आने के बाद उन्हें मनोवैज्ञानिक ढंग से मुक्ति का अहसास हुआ। उनकी पत्नी उनके इस तरह के बयानों से सहमत नहीं थीं और उनका कहना था कि बर्लिन में उनके पति ने बड़े सुखद दिन बिताये थे और वहाँ के प्रमुख भौतिकशास्त्रियों के सान्निध्य में उन्हें बहुत अच्छा लगता था। आइन्स्टीन इससे सहमत थे और वह मानते थे कि अगर विज्ञान की दृष्टि से ही देखा जाये तो निश्चय ही बर्लिन उनके लिए बहुत अच्छी जगह थी। लेकिन उनका कहना था कि वह न जाने क्यों वहाँ एक अजीब किस्म का दबाव महसूस कर रहे थे और उन्हें इस बात का पूर्वाभास हो गया था कि यहाँ उनका अन्त अच्छा नहीं होगा।

इसी उधेड़बुन में आइन्स्टीन ने रशियन अकादमी से इस्तीफा दे दिया था। उन्हें पता था कि अगर वह इस्तीफा नहीं भी देंगे तो नाजी शासक उन्हें वहाँ से निकाल बाहर करेंगे। ऐसी हालत में मैक्स प्लैंक जैसे जर्मन वैज्ञानिकों के सामने एक अजीब स्थिति पैदा हो जायेगी। अगर वे आइन्स्टीन के निष्कासन का विरोध करेंगे तो नाजी सरकार उन्हें दंडित करने से छोड़ेगी नहीं। अगर वे निष्कासन के पक्ष में होंगे तो इससे वे खुद को कलंकित महसूस करेंगे। मुसीबत वाली इस स्थिति से अपने मित्रों को बचाने के लिए आइन्स्टीन ने अकादमी को एक पत्र लिखा कि मौजूदा सरकार के रहते हुए वह अपने पद पर काम नहीं कर सकते और फिर उन्होंने इस्तीफा दे दिया।

उनका इस्तीफा मिलते ही अकादमी की समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। अकादमी के अध्यक्ष को इस बात का गर्व था कि उस संस्थान के साथ वाल्टेयर, द लम्बेयर (गणितज्ञ) और मापर्चुइस (गणितज्ञ व दार्शनिक) जैसी फ्रांसीसी हस्तियाँ किसी जमाने में जुड़ी हुई थीं और ऐसे में किसी ऐसे व्यक्ति का इस्तीफा कैसे मंजूर किया जाये जो मानसिक तौर पर जर्मनी का ही राष्ट्रीय नागरिक है। लेकिन उन पर नाजियों का दबाव था। लिहाजा अकादमी ने न केवल वह इस्तीफा मंजूर किया बल्कि एक बयान भी प्रकाशित किया जिसमें आरोप लगाया गया था कि आइन्स्टीन की गतिविधियाँ जर्मन राष्ट्र के हितों के खिलाफ हैं और वह खुद भी शासन द्वारा किये जा रहे अत्याचार की खबरें फैलाते हैं जबकि उनको इसका विरोध करना चाहिए। अकादमी ने आइन्स्टीन को एक पत्र के माध्यम से लिखा, "अगर आप जर्मनी की सत्ता के बारे में कुछ अच्छे शब्द बोल देते तो इसका विदेशों में बहुत अच्छा असर होता।" आइन्स्टीन ने जवाब में लिखा कि अगर वह 'अच्छे शब्द' बोलेंगे तो इसका अर्थ न्याय और स्वतंत्रता की उन धारणाओं का तिरस्कार होगा जिनके लिए वह जीवन भर संघर्ष करते रहे। उन्होंने आगे लिखा कि उनकी तरफ से इस तरह का प्रमाण पत्र देना उन सिद्धान्तों को नीचा दिखाना है जिनके आधार पर सभ्य समाज में जर्मनी की जनता को एक सम्मान का स्थान प्राप्त है। उन्होंने लिखा "मौजूदा परिस्थितियों में इस तरह का कोई प्रमाण पत्र देने का अर्थ यह होगा कि मैं परोक्ष रूप से ही सही नैतिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने और मौजूदा सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट करने में योगदान दे रहा हूँ। इसी वजह से मैंने अत्यन्त मजबूरी में अकादमी से इस्तीफा दिया और आपके इस पत्र से साबित होता है कि मैंने जो कुछ भी किया, अच्छा किया।"

मैक्स प्लैंक के अन्दर जो जातीय पूर्वाग्रह थे उसकी वजह से उसके लिए यह समझना असम्भव हो गया कि जर्मनी में जो कुछ हो रहा था उसका वास्तविक अर्थ क्या था। वह ईमानदारी से यह मानता था कि नयी सत्ता द्वारा की जा रही ज्यादतियाँ एक अस्थायी आनुषांगिक परिघटना है। यहाँ तक कि उसने एक प्रोफेसर को, जिसने जर्मनी छोड़ने का फैसला किया था, सलाह दी कि वह एक साल की छुट्टी पर चला जाये। उसका विश्वास था कि साल भर बाद नयी सरकार की इन गतिविधियों की समाप्ति हो जायेगी। एक मौके पर तो उसने व्यक्तिगत रूप से हिटलर से बातचीत भी की कि वह कैसर विल्हम इंस्टीट्यूट में 'गैर आर्य' वैज्ञानिकों को काम करने दें। प्लैंक को हैरानी हुई जब हिटलर ने अपने चिर परिचित पागलपन भरे अन्दाज में उस 'महान लक्ष्य' की फिर घोषणा की जिसमें कहा गया था कि राइक (जर्मन राज्य) के दुश्मनों को समाप्त किये बगैर वह अपना काम नहीं रोकेगा। प्लैंक इस बात के लिए अभिशप्त था कि वह जर्मन विज्ञान के अधःपतन को देखे और आइन्स्टीन को इस बात की खुशी थी कि उन्होंने अपने मित्र के दुख को और नहीं बढ़ाया।

मार्च 1933 में पुलिस ने जर्मनी में आइन्स्टीन के निवास की तलाशी ली और उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली। हिटलर की राजनीतिक पुलिस का कहना था कि इस सम्पत्ति से कम्युनिस्ट आन्दोलन को मदद पहुँचाने की योजना थी। इसके कुछ ही दिन बाद आइन्स्टीन के लेखों को, जिनमें सापेक्षता के सिद्धान्त पर उनके कई लेख थे, सार्वजनिक तौर पर बर्लिन में स्टेट ऑपेरा हाउस के चौराहे पर 'गैर आर्यन और कम्युनिस्ट साहित्य' के साथ जलाया गया।

इन सबके बावजूद नाजी शासन के दौरान भी कुछ प्रोफेसरों ने सापेक्षता के सिद्धान्त को पढ़ाना जारी रखा। ऐसा करते समय वे न तो इस सिद्धान्त का नाम लेते थे और न आइन्स्टीन के नाम का ही उल्लेख करते थे-- बस वे बुनियादी अवधारणा की व्याख्या किये बगैर फार्मूलों और निष्कर्षों पर ही ध्यान केन्द्रित करते थे। कुछ भौतिकशास्त्रियों ने यह भी योजना बनायी कि वे किसी तरह लेनॉर्ड जैसे वैज्ञानिकों और उनके सापेक्षतावाद विरोधी सिद्धान्तों से मुक्ति पा लें। उन्होंने सोचा कि अगर ब्रातिस्लावा के अभिलेखागार में खोजबीन की जाये, जहाँ लेनॉर्ड के पूर्वज रहा करते थे, तो शायद ऐसी कोई सामग्री मिल सके जिससे यह साबित हो कि लेनॉर्ड की नसों में भी गैर आर्य खून था।

अनुवाद : आनन्द स्वरूप वर्मा

कहानी

पराया आदमी

--इतालो कालविनो

एक ऐसा देश था जहाँ के सभी निवासी चोर थे।

रात को सभी अपना घर खुला छोड़कर, हाथ में चोर चाबी और मद्धिम रोशनी की लालटेन लेकर अपने पड़ोसियों के घर चोरी करने चले जाते।

भोर के वक्त वे अपनी झोली भरकर वापस लौटते और देखते कि उनके घर भी चोरी हो गयी है।

इस तरह सब खुशी से रहते, नुकसान में कोई न रहता। क्योंकि सभी एक-दूसरे के घर चोरी करते थे, दूसरा तीसरे के यहाँ चोरी करता और यह सिलसिला तब तक चलता जब तक आखिरी आदमी सबसे पहले के यहाँ चोरी नहीं कर लेता।

खरीदने और बेचने वालों का एक-दूसरे को ठगना, यहाँ के व्यापार का मुख्य अंग था। सरकार अपराधियों का एक गिरोह चलाता था जो अपनी प्रजा से चुराती थी, प्रजा भी अपनी तरफ से सरकार को धोखा देने में दिलचस्पी रखती थी। इस तरह जिन्दगी आराम से गुजर रही थी, न कोई अमीर था न कोई गरीब।

एक दिन, खुदा जाने कैसे, एक ईमानदार आदमी इस देश में रहने के लिए आ टपका। रात को थैला और लालटेन लेकर बाहर जाने के बजाय वह घर पर ही सिगरेट पीता रहा और उपन्यास पढ़ता रहा।

चोर आये, पर घर रौशन देखकर अन्दर नहीं गये।

कुछ दिन तक ऐसे ही चलता रहा। बाद में वे (चोर) उसके पास जाकर यह साफ-साफ बताने को मजबूर हो गये कि अगर वह बिना कुछ किये ही जिन्दगी बिताना चाहता है तो यह दूसरों को काम करने से रोकने की कोई वजह नहीं है। उसके हर रात में घर पर मौजूद रहने का मतलब है कि अगले दिन किसी एक परिवार के पास खाना नहीं होगा।

वह ईमानदार सज्जन इस तर्क के खिलाफ कुछ नहीं बोल सकता था। अब वह हर शाम घर से निकल जाता और अगले दिन सबकी तरह सुबह घर वापस लौटता, बस चोरी नहीं करता। वह ईमानदार था, अब इसका तो कुछ नहीं किया जा सकता। वह घर से दूर, पुल पर चला जाता और बहती नदी के पानी को देखता रहता। जब घर वापस आता तो देखता कि चोरी हो गयी है।

एक हफ्ते से पहले ही उस सज्जन की जेब खाली हो गयी, खाना भी नहीं बचा और घर भी खाली हो गया। लेकिन यह कोई परेशानी नहीं थी बल्कि उसकी अपनी गलती थी। दिक्कत की बात यह थी कि उसके व्यवहार ने सब कुछ गड़बड़ कर दिया था। कारण यह कि वह सबको अपने घर चोरी करने देता, जबकि खुद किसी के घर चोरी नहीं करता। इसलिए हमेशा एक आदमी ऐसा होता जो सुबह अपने घर जाकर देखता तो पाता कि उसके घर चोरी नहीं हुई है, जो उस सज्जन को करनी थी। कुछ समय बाद, किसी कारणवश जिनके घर चोरी नहीं होती थी वे दूसरों की तुलना में अमीर हो गये और वे अब चोरी नहीं करना चाहते थे। स्थिति तब और बिगड़ गयी जब कोई उस सज्जन के घर चोरी करने आया और घर खाली मिला-- इसलिए कुछ लोग गरीब हो गये।

इस दौरान जो अमीर हो गये थे वे भी उस सज्जन की तरह रात को पुल पर जाकर बहते पानी को देखने का शौक पालने लगे। इससे उलझन और भी बढ़ गयी, क्योंकि इसका मतलब था कि बहुत से लोग अमीर हो रहे थे और बहुत से गरीब।

अब अमीर लोगों ने देखा कि अगर वह हर रात पुल पर जाने लगे तो जल्दी ही गरीब हो जायेंगी। तब उन्होंने सोचा कि 'क्यों न हम कुछ गरीब लोगों को हमारे हिस्से की चोरी करने के बदले कुछ दें।' उन्होंने अनुबन्द तैयार किये। वेतन और हिस्सा तय किया-- हाँ, अब भी वे चोर ही थे और अब भी वे एक-दूसरे को ठगना चाहते थे। लेकिन जैसाकि होता है, अमीर और अमीर होते गये और गरीब और भी गरीब।

कुछ लोग इतने अमीर हो गये कि अब उन्हें खुद चोरी करने या किसी को किराये पर रखकर चोरी करवाने की जरूरत नहीं थी। लेकिन अगर वे चोरी करना बन्द कर देते तो फिर से गरीब हो जाते, क्योंकि गरीब उनके यहाँ चोरी कर लेंगे। इसलिए उन्होंने गरीबों में भी सबसे गरीब को, अपनी सम्पत्ति दूसरे गरीबों से बचाने के लिए पहरेदार रख लिया और इसका मतलब था पुलिस बल और जेलें खड़ी करना।

इस तरह उस ईमानदार आदमी के आने के कुछ साल बाद लोग चोरी करने या चोरी होने की चर्चा नहीं करते थे, बल्कि सिर्फ अमीर और गरीब की बातें करते थे। लेकिन वे अभी भी चोर ही थे।

वह अकेला ईमानदार सिर्फ शुरुआत में ही था और बहुत जल्दी ही भूखा मर गया।

अनुवाद : अमित इकबाल

श्रद्धांजलि

फहमीदा रियाज का गुजर जाना...

--सुनीता शर्मा

21 नवम्बर को 72 साल की उम्र में हमारी पसन्दीदा शायरा फहमीदा रियाज ने दुनिया को अलविदा कह दिया। वह लम्बे समय से पाकिस्तान के लाहौर में बीमारी से जूझ रही थीं। उनका जन्म 28 जुलाई 1946 को मेरठ में एक साहित्यकार घराने में हुआ था। बाद में वह अपने पिता की नौकरी में तबादले के चलते हैदराबाद होती हुई सिंध चली गयीं। भारत, पाकिस्तान सहित पूरी दुनिया में वे महिला अधिकारों और प्रगतिशील विचारों की मजबूत आवाज थीं।

उन्होंने उम्र भर हर तरह की कट्टरता और तानाशाही का विरोध किया। जिसके चलते उन्हें अपने देश के शासक वर्ग का भारी विरोध झेलना पड़ा और उन पर मुकदमे भी चलाये गये। 1980 के दशक में सैन्य तानाशाह जनरल जिया उल-हक के शासन के वक्त सात साल तक भारत में निर्वासित रहीं।

उन्होंने युवावस्था में ही लिखना शुरू कर दिया था। उनकी पहली कविता सिर्फ 15 साल की उम्र में कुनुस नामक पत्रिका में छपी थी। उन्होंने पाकिस्तानी रेडियो और बीबीसी उर्दू में भी काम किया। बाद में उन्होंने आवाज नाम से एक उर्दू पत्रिका निकाली। आवाज की निडरता ने जनरल जिया उल-हक सरकार का ध्यान अपनी ओर खींचा। जिसके चलते उन पर और उनके पति पर 10 मुकदमे दर्ज किये गये। पति को जेल भेज दिया गया। बाद में एक प्रशंसक द्वारा उन्हें जेल जाने से बचा लिया गया। पाकिस्तानी सैन्य तानाशाह जनरल जिया-उल-हक को उनके तरक्कीपसन्द विचार पसन्द नहीं आये तो उसने फहमीदा को देश से निर्वासित कर दिया। उस समय वह भारत में आकर रहीं। इसके बावजूद यह सैन्य तानाशाह उनके मनोबल को तोड़ नहीं पाया। उसके बाद पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ द्वारा उन्हें 'भारत की एजेंट' बताया गया।

इससे साफ जाहिर होता है कि उनके विचार तानाशाही के सख्त खिलाफ और लोकतंत्र के पक्के हिमायती थे। लोगों को अपने अधिकार मिलें इसके लिए उन्होंने दुनिया के तमाम देशों में मानवाधिकार कार्यकर्ता के रूप में काम किया। वे कभी भी नहीं चाहती थीं कि जिस तरह से पाकिस्तान में लोकतंत्र का गला घोंटा जा रहा है उस तरह से भारत में हो। लेकिन जब कारगिल युद्ध के दौरान भारत में भी ऐसा माहौल बना तो भारत में बढ़ते धार्मिक कट्टरपंथ, अल्पसंख्यकों के खिलाफ बढ़ती हुई हिंसाओं की खबरों को देखते हुए फहमीदा ने भारत को यह पैगाम दिया कि 'तुम बिलकुल हम जैसे ही निकले'--

तुम बिल्कुल हम जैसे निकले, अब तक कहाँ छुपे थे भाई?
वो मूर्खता, वो घामड़पन, जिसमें हमने सदी गँवाई,
आखिर पहुँची द्वार तुम्हारे, अरे बधाई, बहुत बधाई!
'प्रेत धरम का नाच रहा है कायम हिन्दू राज करोगे?
सारे उल्टे काज करोगे? अपना चमन ताराज करोगे?
तुम भी बैठ करोगे सोचा, पूरी है वैसी तैयारी,
कौन है हिन्दू कौन नहीं है, तुम भी करोगे फतवे जारी
होगा कठिन यहाँ भी जीना, दाँतों आ जायेगा पसीना'
जैसी तैसी कटा करेगी, वहाँ भी सबकी साँस घुटेगी ,
भाड़ में जाये शिक्षा-विक्षा, अब जाहिलपन के गुण गाना,
आगे गड्ढा है मत देखो, वापस लाओ गया जमाना...

फहमीदा रियाज ने बैखोफ होकर अपनी कलम को हमेशा इनसानियत के पक्ष में चलाया। उन्होंने अपनी लेखनी का मुद्दा समाज की सबसे पीड़ित आबादी-- महिला तबके को बनाया। वह महिलाओं के अधिकारों की मजबूत प्रवक्ता थीं। 'एक लड़की से' शीर्षक से लिखी अपनी नज्म में वे कहती हैं ----

संग-दिल रिवाजों की, ये इमारत-ए-कोहना
अपने आप पर नादिम, अपने बोझ से लर्जां
जिस का जर्रा जर्रा है, खुद-शिकस्तगी सामाँ
सब खमीदा दीवारें, सब झुकी हुई गुड़ियाँ
संग-दिल रिवाजों के, खस्ता-हाल जिन्दाँ में
इक सदा-ए-मस्ताना, एक रक्स-ए-रिन्दाना
ये इमारत-ए-कोहना, टूट भी तो सकती है
ये असीर-ए-शहजादी, छूट भी तो सकती है
ये असीर-ए-शहजादी

'चादर और चारदीवारी' नाम से कविता लिखने पर उन्हें पाकिस्तान की जिया-उल-हल सरकार ने देश निकाला दे दिया था। इस कविता में बड़ी सच्चाई के साथ पाकिस्तान में महिलाओं

की हालत के बारे में लिखा गया था।

सियाह चादर तो बन चुकी है मिरी नहीं आप की जरूरत
कि इस जमीं पर वजूद मेरा नहीं फकत इक निशान-ए-शहवत
हयात की शाहराह पर जगमगा रही है मिरी जेहानत
जमीं के रुख पर जो है पसीना तो झिलमिलाती है मेरी मेहनत
ये चार-दीवारियाँ ये चादर गली-सड़ी लाश को मुबारक
खुली फजाओं में बादबाँ खोल कर बढ़ेगा मिरा सफीना
मैं आदम-ए-नौ की हम-सफर हूँ
कि जिस ने जीती मिरी भरोसा-भरी रिफाकत।

फहमीदा ने केवल पाकिस्तान और भारत की महिलाओं के उत्पीड़न के खिलाफ ही नहीं बल्कि उन्होंने दुनिया की सभी महिलाओं के उत्पीड़न के खिलाफ लिखा है। महिला विरोधी सामन्ती समाज में महिलाओं को हमेशा घर में कैद रखा जाता था। उन पर अत्याचार किये जाते थे। महिलाएँ भी खुले आसमान में साँस ले सकें और अपने सपनों को पूरा कर सकें। इसलिए फहमीदा महिलाओं को उत्साहित करने के लिए और महिला उत्पीड़न के खिलाफ 'इन्कलाबी औरत' शीर्षक नाम से एक कविता लिखती हैं--

रणभूमि में लड़ते-लड़ते मैंने कितने साल
इक दिन जल में छाया देखी चट्टे हो गये बाल
पापड़ जैसी हुईं हड्डियाँ जलने लगे हैं दाँत
जगह-जगह झुर्रियों से भर गयी सारे तन की खाल
देख के अपना हाल हुआ फिर उस को बहुत मलाल
अरे मैं बुढ़िया हो जाऊँगी आया न था खयाल...

एक पुरुषवादी समाज में पुरुष महिला को किस हद तक प्यार कर सकता है या महिलाओं के प्रति प्रेम के बारे में पुरुष का क्या नजरिया है--

कब तक मुझ से प्यार करोगे
कब तक?
जब तक मेरे रहम से बच्चे की तखलीक का खून बहेगा
जब तक मेरा रंग है ताजा,
जब तक मेरा अंग तना है
पर इस के आगे भी तो कुछ है
वो सब क्या है
किसे पता है
वहीं की एक मुसाफिर मैं भी
अनजाने का शौक बड़ा है
पर तुम मेरे साथ न होगे तब तक।

नोटबन्दी : एक मंत्रालय, दो रिपोर्ट

केन्द्रीय कृषि मंत्रालय ने 20 नवम्बर को एक रिपोर्ट दी थी जिसमें पहली बार स्वीकार किया गया था कि नोटबन्दी ने करोड़ों किसानों को बुरी तरह से प्रभावित किया था। मंत्रालय ने उस रिपोर्ट को वापस ले लिया और हफ्ते भर में एक नयी रिपोर्ट पेश कर दी। जिसमें दावा किया गया है कि नोटबन्दी का किसानों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। कृषि सचिव संजय अग्रवाल ने कहा कि चूँकि वे विदेश दौरे पर थे इसलिए रिपोर्ट की जाँच नहीं कर पाये थे। मंत्रालय द्वारा रिपोर्ट वापस लेना और फिर मनभावन रिपोर्ट पेश करना सामान्य घटना नहीं है। जाहिर है कि भारी दबाव के बाद ही उसने यह शर्मनाक कदम उठाया होगा। इस मामले को लेकर बनायी गयी संसदीय समिति के अध्यक्ष वीरप्पा मोइली ने इसी बात की ओर संकेत करते हुए रिपोर्ट वापसी की इस घटना की भर्त्सना की है।

पहले वाली रिपोर्ट में मंत्रालय ने यह साफ-साफ स्वीकार किया था कि ''रबी की फसल के समय बीज और खाद खरीदने के लिए नगदी की कमी के चलते करोड़ों किसान असमर्थ थे।'' यहाँ तक कि बड़े भूस्वामी भी लागत खरीदने और मजदूरी दे पाने में असमर्थ थे।

नयी रिपोर्ट में रबी की फसल का रकबा और उत्पादन बढ़ने का आँकड़ा देते हुए इसके अच्छे परिणाम की पुष्टि की गयी है। रकबा और उत्पादन बढ़ने के पीछे सच्चाई यह है कि वर्ष 2016-17 में तीन साल के सूखे के बाद अच्छा मानसून रहा था। इसी वजह से किसानों ने ज्यादा रकबे में फसल लगायी। सवाल यह है कि उस दौरान किसानों ने किन-किन मुसीबतों के बाद नगदी की समस्या से जूझते हुए अपनी फसल बचायी और इसकी क्या-क्या कीमत चुकायी? किसानों की समस्याओं की असली रिपोर्ट कृषि मंत्रालय के अधिकारी और उनके आँकड़ों की बाजीगरी से नहीं समझी जा सकती है। इसे हम अपने आस-पास के किसी भुक्तभोगी की मुँह से ही सुन और जान सकते हैं। जाके पाँव न फटे बिवाई, सो क्या जाने पीर परायी।

बढ़ती मानसिक बीमारियाँ
लाइलाज होती सामाजिक व्यवस्था का लक्षण

--विक्रम प्रताप

एक व्यक्ति फटे-पुराने चिथड़े में शहर के एक पुल पर खड़ा गालियाँ बके जा रहा था। राहगीर कुछ देर खड़े होकर उसकी गालियाँ सुनते, उत्तेजित होते लेकिन जल्दी ही ऊबकर यह कहते हुए अपनी राह लेते कि पागल है। गाली बकने वाले के मुँह से झाग निकल रहा था और उसके हाथ में एक जंग लगा चिन्दी चाकू था। वह उत्तेजना में चाकू लहराते हुए लगातार बोले जा रहा था कि हरामजादों, मार दूँगा। देखते नहीं, मेरे हाथ में बन्दूक है। टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा। ऐसा मारूँगा कि लाश की खबर नहीं मिलेगी... ये बातें कहते हुए वह काँप रहा था। उसके निशाने पर कोई खास व्यक्ति नहीं था या आते-जाते सभी लोग उसके निशाने पर थे। इसी तरह एक अन्य घटना में एक व्यक्ति रोज सुबह उठकर शाम तक चौराहे पर ट्रैफिक कण्ट्रोल किया करता था। उसके कपड़े फटे हुए होते थे। जाड़ा, गर्मी, बरसात कभी नागा नहीं करता था। लोग चलते हुए उसे देखते और आगे बढ़ जाते। कभी-कभी कुछ लोग उसे खाने के लिए कुछ दे दिया करते थे, जिसे खाने के बाद वह फिर से अपने काम में लग जाता था। इस तरह के और भी दृश्य आपकी आँखों के सामने से गुजरे होंगे। शायद ही कोई रुककर उनके बारे में गहराई से सोचता हो। ऐसे लोगों की एक ही खास बात होती है कि ये एक खास वर्ग शोषित-पीड़ित वर्ग से ही नहीं आते हैं।

कहते हैं कि समस्याएँ जब तक चारों और से न घेर लें तो वह समस्या ही क्या है? देश में अधिकांश परिवारों की हालत ऐसी ही हो रही है कि एक समस्या का अन्त नहीं होता, दूसरी आकर घेर लेती है। आर्थिक समस्याएँ तो थीं ही, बीमारियों ने घर को तोड़ डाला। लेकिन अब एक नयी समस्या अपना पैर पसार रही है-- वह है बड़ी संख्या में लोगों के मानसिक स्वास्थ्य में गिरावट। अब शायद ही कोई परिवार इससे अछूता रह गया हो, लेकिन विचित्र बात यह कि हमारे यहाँ ज्यादातर लोग मानसिक बीमारी को कोई बीमारी मानते ही नहीं। बीमारी के इर्द-गिर्द एक रहस्य की चादर होती है और इसकी अनदेखी ने समस्या को और भयावह रूप दे दिया है।

राजनीति में शायद ही कोई हो जो अपने विरोधियों को कैंसर या टीबी का रोगी कहकर उसका मजाक उड़ाता हो लेकिन मन्दबुद्धि, विक्षिप्त, सिजोफ्रेनिक, पागल आदि विशेषणों से नवाजा जाना आम चलन में है। और अब तो भारत में मानसिक बीमारियाँ कोई हँसी-मजाक या व्यंग्य-निन्दा की बात नहीं रह गयी हैं बल्कि ये गम्भीर महामारी का रूप लेती जा रही हैं। राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण की 2015-16 की रिपोर्ट के अनुसार भारत में 18 साल से ऊपर के लगभग 15 करोड़ लोग (चौंकिये मत, यह आँकड़ा इससे बहुत अधिक हो सकता है) तरह-तरह की मानसिक बीमारियों से ग्रसित हैं। यानी भारत में 12.6 प्रतिशत से अधिक आबादी मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं से पीड़ित है, अभी तक इस मामले में गम्भीर शोध और अध्ययन का भारी अभाव है इसीलिए तथ्यों की भारी कमी है। लेकिन इस समस्या की गम्भीरता और भयावहता से वे लोग अच्छी तरह परिचित हैं जिन्होंने या तो ऐसी किसी बीमारी का सामना किया हो या उनका कोई परिचित इनसे पीड़ित रहा हो।

एक व्यक्ति ने जब अपने अन्दर सामान्य दिनों की अपेक्षा अधिक बेचैनी महसूस की तो वह मनोचिकित्सक से मिलने गया। उसने अपनी दिक्कतें बतायीं, "सोकर उठने का मेरा मन नहीं होता है। हाथ भी उठाने का मन नहीं करता। किसी काम में उत्साह नहीं है। सोचता हूँ कि जब सब खत्म हो जायेगा तो कुछ करने से क्या फायदा। "मनोचिकित्सक ने उसकी बीमारी को अवसाद (डिप्रेसन) के रूप में चिन्हित किया। ऐसी भावनाएँ कभी-कभी किसी व्यक्ति को अपने प्रभाव में ले लेती हैं, अगर वे पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक हों तो समस्या नहीं है। लेकिन अगर वे बहुत हठी साबित हों, लम्बे समय तक व्यक्ति को अपने प्रभाव में जकड़े रहें तो वे अवसाद का रूप ले लेती हैं। अगर अवसाद मन में जड़ जमा ले तो वह गहरे अवसाद में बदल जाता है। दुनिया भर में 35 करोड़ लोग अवसाद से पीड़ित हैं।

एक बार मशहूर अभिनेत्री दीपिका पादुकोण अवसाद से पीड़ित हुईं तो उन्होंने काउंसलर और मनोचिकित्सक से अपना इलाज कराया। स्वस्थ होने पर उन्होंने बताया कि उस समय मुझे बहुत रोना आता था और खालीपन महसूस होता था। सामाजिक समस्या के तौर पर इसे चिन्हित करते हुए

उन्होंने बताया कि यह बीमारी अमीर-गरीब का भेद नहीं जानती। उन्होंने आगे सलाह भी दी कि इसे छिपाने की जरूरत नहीं है। रोगी को मनोचिकित्सक से सलाह लेनी चाहिए। जाहिर है कि उनकी यह नेक सलाह देश के उच्च और मध्यम वर्ग के लिए ही व्यवहार्य है, क्योंकि वे ही महँगे मनोचिकित्सक से इलाज करा सकते हैं। ध्यान देने वाली बात है कि उच्च और मध्यम वर्ग की कुल संख्या भारत में अधिकतम 25 करोड़ है। 100 करोड़ गरीब कहाँ इलाज करायें, जिनके लिए जानलेवा बीमारियों का इलाज करवाना और रोजी-रोटी का जुगाड़ करना ही बड़े जद्दोजहद का काम होता है।

अवसाद होने पर मन उदास रहता है और किसी चीज से लगाव नहीं रह जाता है। समाज में बढ़ती अजनबीयत या अलगाव इसकी जड़ में होता है। 2004 में अमरीका में एक फिल्म बनी थी-- द एविएटर। इस फिल्म में हॉलीवुड के मशहूर अभिनेता लियोनार्डो डिकैप्रियो ने पूँजीपति हावर्ड ह्यूजेस का किरदार निभाया था। 1938 में हावर्ड ह्यूजेस ने विमान बनाने वाली कम्पनी ट्रांसकांटिनेंटल एंड वेस्टर्न एयर (टीडब्ल्यूए) के अधिकांश शेयर खरीद लिये और उस कम्पनी का मालिक बन गया। 1940 के दशक के मध्य में ह्यूजेस ने अमरीका की आर्मी एयर फोर्स के साथ दो परियोजनाओं का अनुबन्ध किया-- द्वितीय विश्व युद्ध के लिए एक जासूसी विमान और एक सेना परिवहन इकाई। यह जानते हुए कि ये विमान युद्ध में इस्तेमाल होंगे और उससे हजारों लोगों के घरों के ऊपर बम गिराकर उन्हें मार दिया जायेगा, उसने अपनी दोनों परियोजनाओं को आगे बढ़ाया। उसके लिए इनसानी जिन्दगी केवल उसका मुनाफा बढ़ाने का साधन भर थी। इनसानियत से उसका अलगाव इस कदर बढ़ा कि वह अय्यासी करने वाले तोंदियल अमीर जानवर में बदल गया और जब उसकी कम्पनी घाटे के चलते तबाह हुई तो वह अवसाद से घिर गया। खुद को कमरे में बन्द कर लिया, अपने सारे कपड़े जला दिये, दाढ़ी बढ़ गयी। घर के अन्दर ही खाता-हगता था और लगातार रोता रहता था।

19वीं सदी के अन्त और 20वीं सदी के आरम्भ में अमरीकी समाज में अलगाव/अजनबीयत की शुरुआत हो गयी थी। 1950-60 तक आते-आते वहाँ इसने गम्भीर बीमारी का रूप ले लिया। 1959 में फ्रित्ज पापेनहाइम ने एक किताब लिखी, जिसका नाम था-- द एलिएनेशन ऑफ मॉडर्न मैन। (गार्गी प्रकाशन से 'आधुनिक मानव का अलगाव' नाम से हिन्दी में प्रकाशित हुई है।) लेखक ने इस किताब में पश्चिमी देशों में तेजी से बढ़ रहे अलगाव, अवसाद और आत्महत्या की बढ़ती प्रवृत्ति पर विस्तार से चर्चा की है। इस मामले में उसने जर्मन समाजशास्त्री फर्दिनान्द टोनीज और कार्ल मार्क्स के विचारों की गम्भीर जाँच-पड़ताल की है। वे लिखते हैं, "विक्रेता और उपभोक्ता के बीच की फूट से भी गहरा अलगाव माल उत्पादक और मजदूर के बीच होता है। उनके बीच का सम्बन्ध एक ऐसी दुनिया रचता है जिसका सारगर्भित वर्णन पूँजी में किया गया है। मार्क्स लिखते हैं कि उसके प्रवेश द्वार पर लिखा हुआ है-- 'बिना काम के प्रवेश की इजाजत नहीं...। एकमात्र शक्ति जो उन्हें साथ लाती है और एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़े रहती है, वह है-- स्वार्थपरता, लाभ और हर एक का निजी स्वार्थ। हर व्यक्ति सिर्फ अपने आप को देखता है और कोई भी दूसरों को लेकर परेशान नहीं होता...'"

21 नवम्बर 2018 की शाम, राजस्थान के अलवर में 4 दोस्तों की सामूहिक आत्महत्या की दिल दहला देने वाली घटना घटी। चार दोस्तों ने एक साथ सामने से आ रही तेज गति की जयपुर-चंडीगढ़ ट्रेन के आगे छलांग लगा दी। पलक झपकते ही उनके चिथड़े उड़कर 500 मीटर में फैल गये। इस घटना के चश्मदीद रहे राहुल ने बताया कि उसके चार दोस्त मरने की तमन्ना लिए रेलवे पटरी की ओर जा रहे थे। हँसी-मजाक करते हुए उनमें से सत्यनारायण ने राहुल से पूछा कि अब तो मेरा जीने से मन भर गया है। हम सब तो मरेंगे, तू भी मरना चाहता है तो बता। सत्यनारायण ने आगे कहा, देख नौकरी लगेगी नहीं और खेतों में काम हमसे होगा नहीं, तो जी कर क्या करेंगे, दूसरों को तकलीफ ही देंगे। यह घटना इस बात का ज्वलंत उदाहरण है कि हमारी नयी पीढ़ी में अवसाद कितनी गहराई से जड़ जमाता जा रहा है। बेरोजगारी और अन्धकारमय भविष्य के चलते न तो परिवार में और न ही समाज में उनका सम्मान है। भारत में खराब लिंगानुपात के चलते जीवन साथी मिलने की उम्मीद भी क्षीण हो गयी है। इन वजहों के चलते उनके मन में दुनिया के प्रति विरक्ति का भाव पैदा हो रहा है। यह विरक्ति भयावह है जो अपराध, धार्मिक उन्माद और आत्महत्या को जन्म देने वाली है।

भारत में नाबालिग बच्चों में आत्महत्या के मामले बढ़ते जा रहे हैं। यह बहुत चिन्ताजनक विषय है। हर साल दुनिया भर में लगभग 8,00,000 लोग आत्महत्या करते हैं, इनमें से 1,35,000 यानी 17 प्रतिशत भारत के निवासी हैं। इनमें भी बड़ी संख्या में किशोर उम्र के नाबालिग बच्चे होते हैं। हर घण्टे एक छात्र आत्महत्या करता है। आज पूँजीवादी प्रतियोगिता ने घर में भी अपना डेरा जमा लिया है। माँ-बाप और अध्यापक के द्वारा बच्चों के ऊपर लगातार दबाव डाला जाता है कि वे अपनी कक्षा में अव्वल रहें। भविष्य में उन्हें प्रतियोगी परीक्षाओं का सामना करना है। कभी-कभी इसे लेकर बच्चों को पीटा भी जाता है। बच्चे का कोमल मन इन दबावों को झेल नहीं पाता। इसके चलते कम उम्र में ही बच्चे

अवसादग्रस्त हो जाते हैं। धीरे-धीरे उनका तनाव अपनी चरम सीमा को पार कर जाता है और वे मौत को गले लगा लेते हैं।

अमरीका के वाशिंगटन स्थित एक विश्वविद्यालय की रिपोर्ट के अनुसार, वायु प्रदूषण फेफड़े की बीमारी और डायबिटीज के अलावा डिमेंशिया जैसी मानसिक बीमारी को भी बढ़ावा देता है। डिमेंशिया (मनोभ्रंश) के रोगी की याददाश्त कमजोर पड़ जाती है जिससे सोचने में और शब्दों के चुनाव में कठिनाई होती है और वह छोटी-छोटी समस्याओं को भी सुलझा पाने में अक्षम हो जाता है। जापान में टोक्यो के वैज्ञानिकों ने पाया कि 30 साल से कम उम्र के लोगों में आत्महत्या का जोखिम नाइट्रोजन डाई ऑक्साइड रसायन से जुड़ा हुआ है और चीन के गुआंगजाऊ में, इसे सल्फर डाई ऑक्साइड से भी जुड़ा पाया गया है। यानी वायु प्रदूषण बढ़ने से आत्महत्या का खतरा भी बढ़ता जा रहा है। पर्यावरण प्रदूषण के चलते सिजोफ्रेनिया (मनोविदलता) की बीमारी का भी खतरा बढ़ जाता है। इस बीमारी से पीड़ित व्यक्ति कल्पना और वास्तविकता में अन्तर नहीं कर पाता। वह व्यवहार में लोगों से सामंजस्य नहीं बैठा पाता। हरदम शंकालू और भयभीत रहता है। ऐसा माना जाता है कि इस बीमारी की जड़ें आनुवंशिकता, संस्कृति और पर्यावरण की समस्या में हैं। अभी तक ऐसा कोई इलाज नहीं खोजा जा सका है, जिससे इसे जड़ से मिटाया जा सके। लेकिन मनोचिकित्सक के परामर्श और इलाज से कुछ हद तक इसे काबू में किया जा सकता है।

मानसिक बीमारी की विकराल समस्या के आगे इससे निबटने की सरकार की तैयारी बिलकुल लचर है। 1980 में नेशनल मेंटल हेल्थ मिशन को शुरू किया गया था लेकिन इसे ठीक से लागू नहीं किया गया। 2015 में जारी स्वास्थ्य मंत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार भारत में मात्र 898 मनोवैज्ञानिक क्लीनिक हैं। केवल 3800 मनोचिकित्सक, 1500 मनोबीमारी से सम्बन्धित नर्सें और 43 मेंटल हेल्थ हॉस्पिटल हैं। यानी 10 लाख की आबादी के लिए एक मनोचिकित्सक है। दिल्ली के शाहदरा में 'मानव व्यवहार और सम्बद्ध विज्ञान संस्थान' (इहबास) है। यहाँ हालत इतनी खराब है कि सैकड़ों किलोमीटर दूर से चलकर मरीज यहाँ इलाज कराने आते हैं और रोज रात 2 बजे से लाइन में लगकर सुबह 9 बजे के बाद से अपनी बारी आने का इन्तजार करते हैं। 2011 में जारी विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत अपने स्वास्थ्य बजट का मात्र 0.06 प्रतिशत मानसिक स्वास्थ्य पर खर्च करता है जो बांग्लादेश जैसे गरीब देश के अनुपात में 7 गुना कम है।

मानसिक बीमारी से जुड़ा जबर्दस्त सामाजिक स्टिग्मा (बदनामी का डर) है। इसके चलते लगभग 90 प्रतिशत रोगियों का समय रहते इलाज नहीं हो पाता, जबकि 99 प्रतिशत लोग इसके उपचार की जरूरत से ही इनकार करते हैं। इस मामले में धर्म और अंधविश्वास लोगों पर गहरा प्रभाव जमा लेता है। लोग मानसिक बीमारी को जादू-टोने से जोड़कर देखते हैं और रोगी को बाबा-ओझा-सोखा के हवाले कर देते हैं जो अपना उल्लू सीधा करने के अलावा कुछ नहीं करते। मिर्गी ऐसी ही बीमारी है जिसमें लोग बाबाओं के चक्कर में फँस जाते हैं। मिर्गी की बीमारी होने पर शरीर में सनसनी महसूस होती है, रोगी काँपने लगता है या फिर अचानक बेहोश हो जाता है। मस्तिष्क की चोट, स्ट्रोक, मस्तिष्क कैंसर, मानसिक कुपोषण, नशीली दवाओं और शराब के दुरुपयोग तथा अन्य कारणों के चलते मिर्गी आती है। दुनिया में 5 करोड़ और भारत के लगभग एक करोड़ लोग मिर्गी से पीड़ित हैं। इसका इलाज सम्भव है। लेकिन ओझा मरीज को बुरी तरह प्रताड़ित करते हैं। मरीज को लाल मिर्च का धुआँ सूँघने पर मजबूर करते हैं। लाठी-डंडे से पिटाई करते हैं, जिससे प्रेतात्मा मरीज के शरीर को मुक्त कर भाग जाये। दर्द और डर से मरीज ओझा की हर बात में हामी भर लेता है। कहावत है, मरता क्या न करता। कई मामलों में प्रताड़ना के चलते मरीज की मौत भी हो जाती है। अगर मरीज महिला हुई तो बाबा-ओझा उन्हें अपनी हवस का शिकार भी बनाते हैं।

29 मई 2017 को मानसिक स्वास्थ्य देखभाल अधिनियम पास होकर कानून का रूप ले चुका है। यह कानून मानसिक बीमारी से पीड़ित लोगों को सुरक्षा और इलाज का अधिकार देता है। इसमें पीड़ित व्यक्ति को स्वास्थ्य बीमा का लाभ दिलाने की भी बात कही गयी है, जो अब तक दुर्लभ थी। अंग्रेजों के समय से भारतीय दंड संहिता की धारा 309 चली आ रही थी जिसके तहत आत्महत्या का प्रयास अपराध माना जाता था, जिसके एवज में आरोपी के लिए एक साल तक की कैद और जुर्माने की सजा थी। नये कानून में आत्महत्या के प्रयासों को अपराध के दायरे से बाहर कर दिया गया है और इसे लेकर बेहतर मानसिक उपचार मुहैया कराने का प्रावधान है। लेकिन सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि जब मानसिक बीमारी हमारी समाज व्यवस्था की देन है, तो क्या इसे महज कानून में बदलाव करके रोका जा सकता है? आत्महत्या करने वालों को दो श्रेणी में बाँटकर देखना चाहिए। पहला, आर्थिक कारणों के चलते आत्महत्या करने वाले लोग और दूसरा, वे लोग जिनकी आर्थिक जरूरतें तो पूरी हो जाती हैं लेकिन वे सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं से जूझ रहे होते हैं। हमारे देश में अपने हालात से तंग आकर, जिसमें आर्थिक बरबादी मुख्य है, बहुत बड़ी संख्या में लोग आत्महत्या करते हैं। इसे मानसिक उपचार से हल नहीं किया जा सकता। ऐसी आत्महत्याओं को रोकने का सबसे कारगर उपाय लोगों की तबाह होती माली हालत में सुधारकर और उन्हें सम्मानजनक रोजगार मुहैया कराके ही किया जा सकता है।

आज मनोचिकित्सक और मनोवैज्ञानिक खुद भी उसी समस्या से ग्रस्त हैं जिसका हल निकालने की जिम्मेदारी उनके कन्धों पर है। इसलिए वे केवल बीमारी के लक्षणों का ही इलाज कर पाते हैं। बीमारी को जड़ से खत्म नहीं कर पाते। बीमारी को जड़ से मिटाने के लिए उसके सही कारणों की तलाश बहुत जरूरी है। इनसान सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर ही अपनी आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक जरूरतें पूरी करता है। लेकिन पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव के चलते इनसान अपने समाज से कटता चला गया है। समाज का ताना-बाना विघटित होकर छिन्न-भिन्न हो गया है। पूँजीवाद ने स्वार्थपरता और लोभ-लालच की संस्कृति को बढ़ावा दिया है। मालिक-मजदूर से, बाप-बेटे से, पति-पत्नी से और दोस्त-दोस्त से केवल स्वार्थ के चलते जुड़ा हुआ है। पैसे ने प्रेम सम्बन्धों की जगह ले ली है। इस व्यवस्था में पैसे ने व्यक्ति से ऊपर खुद को स्थापित कर लिया है। इससे इनसान-इनसान के बीच एक बड़ी दीवार उठ गयी है, जिसे कोई भी आसानी से लाँघकर किसी दूसरे व्यक्ति के मन तक नहीं पहुँच पाता। एक तरह से हर इनसान दूसरे इनसान से बेगाना होता चला गया है। आज यह अलगाव बढ़ता हुआ अपने चरम पर पहुँच गया है। अब इनसान खुद से बेगाना हो गया है। उसे अपने अस्तित्व का भान नहीं है। वह अपनी अन्तश्चेतना से, अपनी आत्मा से दूर हो गया है। पैसे की माया ही ऐसी है।

दूषित हवा, पानी और भोजन से रोगों के खिलाफ लड़ने की शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता में गिरावट आयी है। मन, मस्तिष्क और शरीर के बीच सम्बन्धों का संचालन करने वाली चालक शक्ति न्यूरान होती है, जो हमारे स्नायु तन्त्र के जरिये काम करती है। प्रदूषण ने स्नायु तन्त्र को कमजोर बना दिया है। इनसान पूँजीवादी व्यवस्था के चलते पहले से ही अलगावग्रस्त हो गया है और तरह-तरह की मानसिक बीमारियों से पीड़ित है, तो प्रदूषण ने बीमारी से लड़ने की इनसानी क्षमता को और कम कर दिया है। हमारा समाज भी इस मामले में सचेत नहीं है। लोग इसे मानसिक बीमारी के रूप में नहीं लेते। समाज में पीड़ित व्यक्ति को 'पागल' घोषित करके उसका मजाक उड़ाया जाता है। इलाज के मामले में सरकारी व्यवस्था लचर है। इस दिशा में सकारात्मक शोध का भी अभाव है। नतीजतन, आज मानसिक बीमारियाँ भयावह रूप से फैल रही हैं और महामारी का रूप लेती जा रही हैं।

क्या मानसिक बीमारी को जड़ से मिटाया जा सकता है? इसका जवाब नहीं भी है और हाँ भी। हालाँकि मनोचिकित्सक की सलाह और पीड़ित व्यक्ति की अच्छी देखभाल से कुछ हद तक इन बीमारियों को काबू में किया जा सकता है। लेकिन मुनाफा केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था के रहते इसे जड़ से खत्म नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह व्यवस्था रात-दिन ऐसी बीमारियों को पैदा कर रही है। इसे जड़ से मिटाने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर मानव केन्द्रित व्यवस्था का निर्माण करना होगा जो मानव-मानव के बीच प्यार के परस्पर सम्बन्धों पर टिकी हो। जहाँ विघटित व्यक्तित्व वाले ''मैं'' की जगह सामूहिक चेतना सम्पन्न ''हम'' को पुनः प्रतिष्ठित किया जायेगा। ऐसी व्यवस्था जिसमें निजी स्वार्थपरता की जगह सामूहिक कल्याण की भावना को बढ़ावा दिया जाता हो और जो पर्यावरण विनाश के बजाय पर्यावरण संरक्षण पर टिकी हो। ऐसी व्यवस्था में ही न केवल इनसान-इनसान के बीच का अलगाव खत्म किया जा सकेगा, बल्कि इनसान का समाज से अलगाव और इनसान का खुद से अलगाव भी समाप्त हो पायेगा। तभी जाकर सभी तरह की मानसिक बीमारियों पर लगाम लगेगी।

नया राजपत्र

अगर आप सरकार के
तरफदार नहीं हैं तो
इसके तीन ही मतलब हैं
एक : आप देशद्रोही हैं
उसमें भी बहुत सम्भव है
कि आप पाकिस्तान-परस्त हों
(अल्पसंख्यक अधिक संदिग्ध हैं)

दूसरा : आप नक्सली हैं
या बहुत सम्भव है
कि आप उनके लिए
काम करते हों
(आदिवासी अधिक संदिग्ध हैं)

तीसरा : आपके पास काला धन है
और आप उसे ठिकाने
नहीं लगा पाये
या बहुत सम्भव है
कि आपने उसे
जन-धन खातों में
जमा करवा दिया हो
(गरीब अधिक संदिग्ध हैं)

इसके बावजूद अगर आपको
इस देश में रहने दिया जा रहा है
तो यह सरकार की
सहिष्णुता है
आपकी नहीं!

-पंकज चतुर्वेदी

गुजरात में उत्तर भारतीय मजदूरों पर हमले

गुजरात में यूपी, बिहार, मध्यप्रदेश के मजदूरों को लगातार हमले का निशाना बनाया जा रहा है, ये घटनाएँ गुजरात के साबरकंठा जिले में 14 महीने की एक बच्ची के साथ हुए बलात्कार के बाद शुरू हुईं। आरोपी रविन्द्र साहू बिहार का निवासी था, उसे घटना के 24 घण्टे के अन्दर ही गिरफ्तार कर लिया गया, फिर भी हिंसा लगातार होती रही। इण्डियन एक्सप्रेस की खबर के अनुसार उत्तर भारतीय मजदूरों को ढाबों में घेरकर, फैक्ट्रियों से निकाल कर और रास्तों में रोककर मारा गया।

सूरत के पंडेश्वरा इलाके में 12 अक्टूबर की शाम को काम से लौटते हुए एक मजदूर की उन्मादी भीड़ ने लाठी-डंडों से पीटकर हत्या कर दी। वह मजदूर बिहार का था और 15 सालों से सूरत में परिवार के साथ रहता था। मेहनत से पैसे जमा कर सूरत में अपना घर भी बना लिया था। फिर भी उसके साथ अप्रवासियों जैसा व्यवहार किया गया और उसकी हत्या की गयी। बड़ोदरा जिले के बघोड़िया तहसील में भीड़ ने यूपी और बिहार के करीब 15 लोगों पर लाठी-डंडों से हमला किया। इनमें से 10 लोग गम्भीर रूप से घायल हो गये। बस का इन्तजार कर रही मध्य प्रदेश की राजकुमारी जाटव के अनुसार ''मेरे बच्चे बाहर खेल रहे थे, जब भीड़ ने 4 अक्टूबर को हमला किया। वे अभी तक सदमे में है। मैं अपने 4 साल के बच्चे को डॉक्टर के पास ले गयी ताकि वह शान्त हो जाये।'' भिंड, मध्यप्रदेश के रहने वाले धर्मेन्द्र कुशवाहा के अनुसार कुछ नकाबपोश लोगों ने उनसे कहा कि सुबह 9 बजे तक गुजरात छोड़ दो वरना मारे जाओगे। उसके बाद लोगों से खचाखच भरी 20 बसें वहाँ से यूपी, बिहार और मध्यप्रदेश रवाना हुई। "वारदात के दूसरे दिन ही हिम्मतनगर और साबरकंठा जिले की दो फैक्ट्रियों को निशाना बनाया गया, 2 अक्टूबर को वाडनगर और विजयपुर शहर में फैक्ट्रियों पर हमला किया गया ।

पुलिस के मुताबिक करीब 200 लोगों की भीड़ ने फैक्ट्री के बाहर इकट्ठा होकर पत्थर फेंके और माँग की कि "जब तक बच्ची को न्याय नहीं मिल जाता, यूपी, बिहार से आये लोगों को नौकरी से निकाल दो, अन्यथा वे मारे जायेंगे।" अहमदाबाद मिरर के अनुसार बीते दो हफ्तों में 50 हजार से ज्यादा अप्रवासी मजदूरों को राज्य छोड़कर भागना पड़ा । गुजरात में इन दिनों में अप्रवासियों के साथ 70 से ज्यादा हिंसक घटनाएँ हुई हैं। पुलिस ने इस मामले में 600 से ज्यादा लोगों को गिरफ्तार किया है।

इस पलायन से गुजरात की अर्थव्यवस्था पर काफी असर पड़ा, गुजरात चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज के सचिव शैलेश पटवारी के अनुसार "गुजरात में 70-80 प्रतिशत मजदूर बाहर के हैं, इनके जाने से काम धन्धों पर असर पड़ रहा है, यूपी, बिहार के कारीगरों के बिना उद्योग नहीं चल सकते क्योंकि जो काम यूपी, बिहार के कारीगर, जितने सस्ते दामों में कर सकते हैं वो गुजराती नहीं कर सकते। साणन्द इन्डस्ट्रियल एसोसिएशन के प्रमुख अजित शाह का कहना है कि "गुजरात के विकास में सबसे ज्यादा भागेदारी लघु उद्योग की है, जिनमें ज्यादातर उत्तर भारतीय मजदूर ही काम करते हैं अगर ऐसा माहौल रहा तो अर्थव्यवस्था के लिए सबसे बड़ा खतरा है।" दूसरी तरफ नेताओं के भड़काऊ और धूर्ततापूर्ण बयान आ रहे हैं, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री आदित्यनाथ का कहना है कि "गुजरात में पिछले तीन दिनों में कोई अप्रिय घटना नहीं हुई, गुजरात एक शान्तिप्रिय प्रदेश है और इस देश के विकास का मॉडल प्रदेश है, गुजरात के विकास से जो लोग ईष्या रखते हैं वे तरह-तरह की अफवाहें फैला रहे हैं।" इसी तरह गुजरात के डीजीपी शिवानन्द झा का 7 अक्टूबर को बयान आया कि "जो हिन्दी भाषी गुजरात छोड़कर जा रहे हैं वे त्यौहार की वजह से ऐसा कर रहे हैं।" इस तरह घटनाओं पर पूरी तरह परदा डालने का काम किया जा रहा है।

सभी मामलों का बारीकी से अध्ययन करने पर पता चलता है कि इन घटनाओं को राजनीतिक रूप दिया जा रहा है, स्थानीय नागरिकों के मुताबिक हिंसक भीड़ में ज्यादातर गुजरात की आम जनता न होकर किसी खास समुदाय के सदस्य हैं। गुजरात में कांग्रेस विधायक अल्पेश ठाकोर ने अपनी ठाकोर सेना बनायी है, जिसके 32000 सदस्य हैं जिनमें से 22000 अकेले अहमदाबाद में हैं। ये घटनाएँ पूरे गुजरात में न होकर, प्रमुख रूप से गाँधीनगर, अहमदाबाद, साबरकंठा, महसाणा, बड़ोदरा तक सीमित हैं, इन्हीं क्षेत्रों में ठाकोर सेना की बहुलता है। इन इलाकों से ही ठाकोर सेना के 400 से ज्यादा लोगों को गिरफ्तार किया गया है, चूँकि पीड़ित बच्ची ठाकोर समुदाय से है तो हिंसा में नाम ज्यादातर ठाकोर समुदाय के लोगों का आया है। गुजरात के पुलिस की रिपोर्ट के अनुसार क्षत्रिय-ठाकोर सेना के 150 से 200 सदस्य एक खास मंशा से एकजुट हुए और हंगामा किया। भीड़ ने पत्थरबाजी की श्रमिकों को पीटा, इस मामले में गिरफ्तार 23 लोग सभी ठाकोर सेना के सदस्य हैं। गाँधीनगर पुलिस ने कांग्रेस नेता महोत ठाकोर को एक विडियो वायरल होने पर गिरफ्तार किया जिसमें वे उत्तर

भारतीयों को अगले 24 घण्टों में उरसाव गाँव छोड़ने की धमकी दे रहे थे। इसी दौरान अल्पेश ठाकोर का बयान आया कि "प्रवासियों के कारण राज्य में अपराध बढ़ गया है मेरे गुजरातियों को रोजगार नहीं मिल पा रहा है, क्या गुजरात ऐसे लोगों के लिए है।" ऐसे संवेदनशील समय में ऐसे बयान और धमकी आग में घी डालने का काम करती हैं। किसी भी भीड़ के पास अपनी स्वतंत्र चेतना नहीं होती है, वह नेताओं के उकसावे पर जघन्य अपराध करने से गुरेज नहीं करती। आजकल गन्दी राजनीति का एक ऐसा प्रचलन बनता जा रहा है कि किसी विशेष पार्टीयों के नेता नौजवानों की सेना बनाते हैं, फिर उनको नफरत और हिंसा का पाठ पढ़ाया जाता है, फिर किसी भी घटना को आधार बनाकर हिंसा, मारपीट, कुत्साप्रचार आदि कामों के लिए झोंक दिया जाता है और इस तरह वे नेताओं के हथियार बनकर अपने ही भाइयों के खून के प्यासे हो जाते हैं।

किसी घटना में शामिल किसी एक व्यक्ति के अपराध की सजा क्या सामूहिक होनी चाहिए? क्या यह गुजरात में बलात्कार की पहली घटना है जिसको इतनी हवा दी जा रही है? क्या आज इस देश का एक भी कोना छेड़छाड़, बलात्कार और घरेलू हिंसा से अछूता है? इन अहम सवालों पर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा। पीड़ित बच्ची सिर्फ गुजरात की नहीं बल्कि पूरे देश की है उसके प्रति हमारी गहरी संवेदना है, लेकिन अपराधी को किसी राज्य, मजहब या भाषा से नहीं जोड़ना चाहिए। अपराधी सभी राज्यों में हैं। पर घटना के बाद किसी विशेष राज्य के मजदूरों का रोजगार छीनकर, घरों से बेघर करना और मारपीट करना सड़ते समाज के कोढ़ में खाज के समान है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यूपी, बिहार के मजदूरों ने अपने सस्ते और शानदार श्रम से सिर्फ गुजरात ही नहीं बल्कि देश के ज्यादातर राज्यों की अर्थव्यवस्था को फायदा पहुँचाया है। इसीलिए वे बुनियादी सम्मान के हकदार हैं।

--अजय गुप्ता

देश के बच्चे कुपोषण की गिरफ्त में

मध्य प्रदेश के अलीराज जिले के गिराला गाँव में झगेले अपनी पत्नी फूला के साथ रहता है, उसके तीन बच्चे हैं। जिनमें एक बच्चा पूरी तरह से कुपोषित है और 15 दिन की लड़की के शरीर पर कपड़े के नाम पर फटा बिस्तर मात्र है। उसी गाँव में बच्चों का वजन करने पर पाया गया कि 398 बच्चों का वजन औसत से कम है और 250 बच्चे कुपोषित हैं। उस गाँव में जब किसी की तबियत खराब होती है तो मरीजों को खाट पर 3 किलोमीटर पैदल ले जाना पड़ता है। इलाज की व्यवस्था न होने के कारण यहाँ महिलाओं की प्रसूति घर पर ही होती है। महिलाएँ ऐनिमिया की शिकार हैं। जब इसका कारण तलाशा गया तो पता चला कि वहाँ बेरोजगारी चरम पर है और जीविका का मुख्य साधन खेती है, लेकिन खेती की बदहाल स्थिति के कारण पेट भरना मुश्किल है। इसके साथ ही आदिवासियों की जमीनों पर लगातार कब्जे हो रहे हैं, जिसके कारण रोजी-रोटी की समस्या भयावह होती जा रही है और लोग नरक जैसा जीवन जीने पर मजबूर हैं। कुछ महिलाएँ अपना पेट पालने के लिए वेश्यावृत्ति तक करने पर मजबूर रहे हैं। उनके बच्चे कुपोषण की गिरफ्त में आकर जान गवाँ रहे हैं, मध्य प्रदेश के शहरी कुपोषण की बात करें तो स्थानीय अस्पताल में एक दिन में छः बच्चे भर्ती हुए जिसमें से दो बच्चों की मौत हो गयी। ग्वालियर जिले में पाँच कुपोषण निदान केन्द्र हैं, जिसमें लगातार कुपोषित बच्चों की संख्या बढ़ती जा रही है। सच्चाई यह है कि मध्य प्रदेश देश में शिशु मृत्यु दर में अव्वल है। आँगनवाड़ी केन्द्रों में पोषाहार के नाम पर बच्चों को पानी से भी पतली दाल दी जाती है। आँकडों के अनुसार जनवरी 2016 से 2018 के बीच राज्य में 57,000 बच्चों ने कुपोषण के कारण दम तोड़ दिया। महिला और बाल विकास विभाग को 2003-2004 से 2014-2015 तक के संयुक्त बजट के लिए 2,50,486 करोड़ रुपये मिले जो सरकार ने खर्च ही नहीं किये। आज भी मध्य प्रदेश में कुपोषण से 92 बच्चे हर रोज दम तोड़ देते हैं। ढाई दशक पहले सर्वोच्च न्यायालय ने कुपोषण समाप्ति के लक्ष्य तक पहुँचने के सम्बन्ध में कहा था कि मध्य प्रदेश में 1,36000 आँगनबाड़ी केन्द्रों की जरूरत है, लेकिन आज प्रदेश में केवल 96,000 केन्द्र हैं। इसलिए अगर एक आँगनवाड़ी कार्यकर्ता द्वारा 40 बच्चों तक खाना पहुँचाने को लक्ष्य मान लें तो 40,000 केन्द्रों का होने का मतलब है कि 16 लाख बच्चे सरकार की पहुँच से दूर हैं। प्रदेश में अकेले श्योपुर जिले में ही बीते कुछ दिनों में ही 70 से ज्यादा बच्चों की मौत कुपोषण से हो चुकी हैं और इस जिले में 19,724 बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। प्रदेश की राजधानी भोपाल में 26,164 बच्चे कुपोषण से जूझ रहे हैं, यहाँ के कारोबारी शहर इन्दौर में भी करीब 22,326 बच्चे कुपोषण के शिकार हैं, मध्य प्रदेश का एक भी जिला ऐसा नहीं है जहाँ कुपोषित बच्चों का आँकड़ा हजारों में न हो। आँकड़ों के मुताबिक प्रदेश में 13 लाख से ज्यादा बच्चे कुपोषण की गिरफ्त में हैं। दरअसल,

कुपोषण मध्य प्रदेश के लिए कोई नया विषय नहीं है, यहाँ हर साल हजारों बच्चों की मौत कुपोषण के कारण होती है। यह बात और है कि सरकार या सिस्टम इन मौतों को बीमारियों से जोड़कर किनारा कर लेती है और कोई भी जरूरी कदम नहीं उठाती।

पिछलें साल 'द वायर' की जाँच में सामने आया कि श्योपुर जिले के कराहल ब्लाक में एक लाख की आबादी है, लेकिन एक ही अस्पताल है और उसमें एक ही डॉक्टर है। बाल स्वास्थ्य पर काम करने वाले सामाजिक कार्यकर्ता प्रशान्त दूबे के अनुसार "कुपोषित बच्चे जिस समुदाय से आते हैं वहाँ अधिकतर भोज्य पदार्थ माँसाहार है, इसलिए उन्हें अण्डे दिये जा सकते हैं।" इस पर इन्दौर के कलेक्टर पी नरसिंह ने जिले में प्रयोग करके देखा और पाया कि यदि कुपोषित बच्चों को हफ्ते में दो अण्डे भी दिये जायें तो उनमें काफी हद तक प्रोटीन की कमी को पूरा किया जा सकता है। लेकिन अपने ही कलेक्टर द्वारा किये गये प्रयोगों को सरकार ने नहीं माना और कहा कि हम शाकाहार के समर्थन वाली सरकार हैं अण्डे नहीं दिये जा सकते। यह कहकर अपना पल्ला झाड़ लिया। वास्तव में शाकाहार तो एक बहाना है, क्योंकि इसी सरकार के कार्यकाल में माँस उत्पादन दो गुना हुआ है। इसी सरकार ने झबुआ और आदिवासी क्षेत्रों में पायी जाने वाली कड़कनाथ मुर्गे की प्रजाति के प्रचार पर करोड़ो रुपये खर्च किये। शाकाहार के समर्थन वाली यह सरकार झूठी है। यह कुपोषण की आड़ में मुनाफाखोरी और दलाली को बढ़ावा देने वाली सरकार है। कुपोषण का बहुत बड़ा कारण बेरोजगारी है, मनरेगा में एक प्रतिशत लोगों को ही सौ दिन का रोजगार मिला। फलस्वरूप लोग काफी संख्या में रोजगार की तलाश में पलायन कर गये और मजदूरी की तलाश में दर-दर भटकने पर मजबूर हैं, तंगहाली के कारण उनके बच्चों को भर पेट खाना नहीं मिल पाता है और वे कुपोषण के शिकार हो जाते हैं।

कुपोषण मध्य प्रदेश में ही नहीं पूरे देश में फैला हुआ है, अगर उत्तर प्रदेश की बात करें तो राज्य का बहराइच जिला देश के कुपोषण के शिकार जिलों में प्रथम स्थान पर है। सरकारी आँकड़ों पर गौर करें तो इस जिले में 53 हजार बच्चे कुपोषण का शिकार हैं। उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद में शहरी और ग्रामीण इलाकों में कुपोषण की स्थिति गम्भीर होती जा रही है, जाँच में पाया गया कि जिले में पाँच साल तक के 5 लाख 37 हजार बच्चों में से करीब 33 प्रतिशत अति कुपोषित पाये गये हैं। बाल विकास परियोजना के 4499 आँगनबाड़ी केन्द्रों पर दो श्रेणियों में इन बच्चों का वजन लिया गया। नवजात से लेकर तीन साल के बच्चों में अति कुपोषितों की संख्या 27,489 रही तीन साल से पाँच तक के आयु वर्ग में 14,360 बच्चे अति कुपोषित पाये गये हैं और यहाँ पर 1.23 लाख बच्चे कुपोषित हैं। आखिर इतने बच्चों के कुपोषण के क्या कारण हैं? उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री की जिम्मेदारी है कि वे इलाहाबाद के कुपोषित बच्चों को पौष्टिक आहार की व्यवस्था करें लेकिन वह इलाहाबाद का नाम बदलने में व्यस्त हैं।

मुम्बई, केवल महाराष्ट्र की नहीं पूरे देश की शान मानी जाती है। वहाँ पर पालिका स्कूलों की हालत यह है कि उसमें पढ़ने वाले 34 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं, सबसे ज्यादा कुपोषित बच्चे सान्ताक्रुज, पालघर, कोलाबा और चेम्बूर में हैं। यदि आँकड़ों की मानें तो 2013-2014 में 30,461 बच्चे कुपोषित थे, उसके बाद ये आँकड़ा बढ़कर 2015-2016 में 1,30,680 हो गया। मिड डे मील में जो भोजन बच्चों को दिया जाता है उसमें लगातार कटौती की जा रही है। साल 2015-2016 में पहली कक्षा से लेकर पाँचवी तक बच्चों का मिड डे मील का बजट 32 करोड़ था, जो 2016-2017 में घटकर 21 करोड़ ही रह गया।

सामाजिक कार्यकर्ता डॉ जितेन्द्र चतुर्वेदी का कहना है कि भारत के "ग्रामीण क्षेत्रों की 70 प्रतिशत किशोरियाँ एनिमिया की शिकार हैं, उनकी 18 साल के अन्दर शादी कर दी जाती है, जिससे वह कुपोषित बच्चों को जन्म देती हैं। भारत को भले ही युवाओं का देश कहा जाये लेकिन यहाँ बच्चों की स्थिति देखकर कोई उम्मीद नहीं बँधती है, भारत आज भी कुपोषित और भूखा है। आज देश के 38.4 फीसदी बच्चों को पौष्टिक खाना नहीं मिलता है, इस लिए कुपोषण आज भी भारत के लिए अभिशाप बना हुआ है।

सारी घटनाओं को विश्लेषण करने पर पता चलता है कि कुपोषण देश में महामारी की तरह फैला हुआ है, जिसको रोकना असम्भव सा हो गया है, देश के चिराग काल की गाल में समाते जा रहे हैं। कितनी बड़ी बिडम्बना है कि आजादी के 71 साल के बाद भी कुपोषण एक दैत्य की तरह मुँह बाये खड़ा है, जिसका मुख्य कारण है गरीबी। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक देश की 80 प्रतिशत जनता 20 रुपये प्रतिदिन पर जीने को मजबूर है। आज देश में रोटी का सवाल सबसे बड़ा सवाल है, दूसरी तरफ देश के धन्नासेठों की आमदनी दिन दोगुनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। सरकार देश के बच्चों की लाशों की कीमत पर सरकारी कोष का उपयोग मूर्तियाँ बनवाने, बुलेट ट्रेन चलाने तथा हथियार खरीदने में कर रही है। किसी भी देश के बच्चे उस देश का भविष्य होते हैं, अगर देश के बच्चे ही कुपोषित होगें तो देश का भविष्य क्या होगा? इसकी हम कल्पना कर सकते हैं।

--ज्योति गुप्ता

कुपोषण से बच्चों की मौत का जिम्मेदार कौन

इसी साल जुलाई में पूर्वी दिल्ली के मंडावली इलाके में हुई तीन बच्चियों की मौत की अटॉप्सी रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो गया है कि तीनों बच्चियों की मौत भूख और कुपोषण के कारण हुई थी। भूख और कुपोषण से मौत का यह सिलसिला बादस्तूर जारी है। मध्यप्रदेश के सतना जिले में दो दशकों से भी अधिक समय से कुपोषण एक बड़ी समस्या बना हुआ है। पिडरा आदिवासी बस्ती में सितम्बर माह में आनन्द नाम के एक मासूम की कुपोषण के चलते मौत हो गयी। माँ और पिता की हालत भी नाजुक है। यहां तक कि इस परिवार को तीन माह से राशन भी नहीं मिला। तीसरी घटना, नवम्बर माह में ही बंगाल के लालगढ़ जिले की है। जंगलखाश गाँव में रहने वाले शबर जनजाति के 7 लोगों की मौत हो गयी। इन में से अधिकतर लोगों की मौत की वजह भूख और कुपोषण है।

कुपोषण बच्चों को सबसे अधिक प्रभावित करता है। जन्म से पहले ही गर्भ में भी बच्चे को माँ के जरिये पौष्टिक भोजन की जरूरत होती है इसी से उसका स्वस्थ विकास होता है। बच्चा 6 महीने से 3 वर्ष की अवधि तक तेजी से बढ़ता है। कुपोषण के चलते सूखा रोग, आँखों के रोग, हड्डियों का कमजोर होना, आयोडिन की कमी, रक्त की कमी, मन्द बुद्धि, शाररिक वृद्धि में कमी, सर र्दद, पचासों तरह की बिमारी हो जाती हैं। कुपोषित बच्चा पढ़ने-लिखने में कमजोर होता है। जिसके चलते उसे समाज में तमाम तरह की जिल्लत झेलनी पड़ती है। सबसे भंयकर इससे जनित आर्थिक नुकसान होता है। कुपोषित व्यक्ति कठिन शारीरिक और मानसिक श्रम नहीं कर पाता इसलिए आार्थिक रूप से पिछड़ जाता है। कुपोषण के कारण मरदूरों की उत्पादकता 10-15 फीसदी तक कम हो जाती है, जो सकल घरेलू उत्पादन को 5-10 प्रतिश्त तक कम कर देती है। आज बड़ी तादाद में बच्चे बाल श्रम और बाल वैश्यावृत्ति में धकेल दिये जाते हैं। बड़े होने पर वे अकुशल मजदूरों की कतार में शामिल हो जाते हैं और पूरी जिन्दगी नरक में तब्दील हो जाती है।

तमाम संस्थाओं के आँकडों से पता चलता है कि भारत में 43 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। विश्व खाद्य कार्यक्रम की रिपोर्ट में बताया गया है कि दुनिया में भूख से पीड़ित लगभग आधे लोग भारत में रहते हैं। सयुक्त राष्ट्र संघ की रिर्पोट के मुताबिक भारत में एक साल में ही 5 वर्ष से कम उम्र के 10 लाख बच्चों की मौत हो जाती है। मध्य प्रदेश में हर रोज दर्जनों बच्चों की मौत कुपोषण के चलते हो रही है। एसीएपफ की एक और रिपार्ट बताती है कि पूरे भारत में कुपोषण जैसी स्थिति बनी हुई है, वैसी हालत पूरे दक्षिण एशिया में और कहीं नहीं देखी गयी। रिपोर्ट में आगे बताया गया है की भारत में अनुसूचित जनजाति में 28 प्रतिशत, अनुसूचित जाति में 21 प्रतिशत पिछड़ी जाति में 20 प्रतिशत और ग्रामीण समुदाय में 21 प्रतिशत हिस्सा अत्यधिक कुपोषण का शिकार है। भारत में शिशु मृत्यु दर 99 प्रति हजार है जो बाग्लादेश और नेपाल जैसे गरीब देशों से भी कहीं अधिक है।

8 मार्च 2018 को प्रधनमंत्री ने राजस्थान के झुँझून से राष्ट्रीय पोषण मिशन की शुरुआत की, जिसके लिए 8 मई 2018 में विश्व बैंक से 20 करोड़ डॉलर का कर्ज लिया, जिससे 10 करोड़ लोगों को लाभ पहुँचाने का उद्देश्य रखा। इससे पहले भी कुपोषण को खत्म करने के लिए तमाम तरह की योजनाएँ लागू की जा चुकी हैं। इन योजनाओं के बावजूद देश में कुपोषण और सम्बन्धित समस्याओं का कोई समाधन नहीं हो सका। बल्कि ये समस्याएँ और विकराल रूप लिये हमारे सामने मौजूद हैं।

हमारा देश खाद्यान के मामले में आत्मनिर्भर है। अनाज, चावल, गन्ना, फल, सब्जी, दूध, काजू, बादाम तमाम तरह की चीजें खूब पैदा कर रहा है। इकनोमिक टाइम्स के अनुसार भारत की खाद्यान जरूरत 25.5-23.00 करोड़ टन है और उत्पादन लगभग 27.00 करोड़ टन है। आस्ट्रेलिया के गेहूँ उत्पादन के लगभग बराबर गेहूँ, हर साल भारत में सड़ जाता है। 40 फीसदी फल और सब्जियाँ और 30 फीसदी अनाज आपूर्ति की अक्षमता के कारण बरबाद हो जाता है। रोजाना देश में 244 करोड़ रुपये के खाद्यान बरबाद कर दिये जाते हैं। हर साल 89,635 करोड़ रुपये की कीमत के खाद्यान फेंक दिये जाते हैं।

इतनी उरर्वक जमीन और इतना अधिक उत्पादन होने पर भी देश की जनता भूख और कुपोषण से मर रही हो तो इसका जिम्मेदार कौन है? क्या इस बरबाद होते खाद्यान को सही सलामत जरूरतमन्द लोगों तक नहीं पहुँचाया जा सकता था। 2010 में गोदामों में सड़ रहे अनाज को गरीब लोगों में बाँटने के सर्वोच्च न्यायालय के आदेश को अनसुना करते हुए सरकार ने ये साफ जाहिर कर दिया था कि वे गरीब जनता के पक्ष में नहीं बल्कि फूड़ कॉरपोरेट मालिकों के हक में खड़ी है। जनता में खाद्यान बाँटने का मतलब बड़े मालिकों के मुनाफे में कटौती करना था।

जो लोग आज भूख और कुपोषण से मर रहे है। उनके पास रोजगार का कोई अच्छा साधन नहीं है जिसके चलते महँगाई के इस दौर में जहाँ किसानों से औने पौने भाव में चीजें खरीदी जाती हैं और बीचौलिएँ जिनमें आढ़ती, दुकानदार से लेकर बड़ी कम्पनियाँ शामिल

हैं, उनके दामों को बढ़ा देते हैं। इसके चलते जनता ना तो खुद को और न ही अपने बच्चों को पौष्टिक आहार दे पाते हैं।

हमारी सरकारें हर समस्या के मूल कारणों को छिपाने की कोशिश करती है। जनता को तमाम तरह के गैर जरूरी मुद्दों में उलझा कर रखती हैं ताकि किसी समस्या के मूल कारणों तक न जा सके बस सतही बातें करती रहे। उसे मूलभूत जरूरतों जैसे रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ, इलाज, मनोरंजन आदि से महरूम रखा जा रहा है।

--मोहित कुमार

दिल्ली सफाई कर्मचारियों की हड़ताल

पूर्वी दिल्ली नगर निगम के सफाई कर्मचारी 27 दिन तक हड़ताल पर थे। नगर निगम में 40 हजार सफाई कर्मचारी काम करते हैं। 2015 से अब तक सफाई कर्मियों की आठ हड़तालें हो चुकी हैं। इस बार हड़ताल लम्बी चली। जिसके चलते उनकी चार माँगों में से एक माँग दिल्ली सरकार ने मान ली है। जो सफाई कर्मचारी अस्थायी तौर पर काम कर रहे हैं उनको स्थायी करने की माँग मान ली गयी है। पूर्वी दिल्ली नगर निगम के सफाई कर्मचारियों का साथ उत्तरी और दक्षिणी दिल्ली नगर निगम के सफाई कर्मचारी तथा अन्य कर्मचारी भी दे रहे थे।

जो लोग सुबह से शाम तक दिल्ली को साफ रखने का काम करते हैं उनका वेतन तीन महीने से रुका पड़ा था। जिसके चलते उनके घर की माली हालत बहुत खराब हो गयी। 2003-2004 में जिन लोगों की नौकरी स्थायी हुई थी उनका बैकलॉग एरियर अभी तक नहीं मिला। जो लोग रिटायर हो गये उनकी पेंशन नहीं मिल रही। सफाई करने वाले पेंशनभोगी लोग भुखमरी की कगार पर हैं। बच्चों के स्कूल की फीस बकाया है, दुकानदार का पैसा बकाया है। इन सब हालातों से तंग आकर कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। हड़ताल करने वाले सफाई कर्मचारियों की मुख्य माँगें हैं-

1. 1 अप्रैल 1998 से लेकर 2017 तक के सभी सफाई कर्मचारियों को स्थायी किया जाये।
2. जो सफाई कर्मचारी 2003-2004 से स्थायी माने गये उनके एरियर और 1800 रुपये ग्रेड पे का भुगतान एक मुस्त किया जाये।
3. सभी सफाई कर्मचारियों को मेडिकल कैशलेस की सुविधा दी जाये।
4. दिल्ली की आबादी के अनुसार नये सफाई कर्मचारियों की भर्ती की जाये।

ये कोई बहुत बड़ी माँगें नहीं हैं। लेकिन न ही दिल्ली सरकार और न ही दिल्ली नगर निगम इन सफाई कर्मचारियों की सुध ले रहा है। जिसके चलते सफाई कर्मचारी सड़कों पर उतरने को मजबूर हुए। दरअसल दिल्ली में आम आदमी पार्टी की सरकार है और दिल्ली के तीनों नगर निगमों और केन्द्र में भाजपा की सरकार है। दिल्ली के मुख्यमंत्री केजरीवाल का कहना है कि 2015-16 में हमने 702 करोड़ रुपये दिये जो कांग्रेस और भाजपा से लगभग दोगुना बजट है। फिर भी वेतन नहीं दिया जा रहा है। और दिल्ली नगर निगम के चेयरमैन का कहना है कि दिल्ली सरकार ने पैसे नहीं दिये। अब सवाल ये उठता है कि सच्चाई क्या है? आखिर क्यों सफाई कर्मचारियों का वेतन नहीं मिला पा रहा है? आखिर इन सफाई कर्मचारियों का वेतन न देने का दोषी कौन है?

स्वच्छ भारत अभियान का ढिंढोरा पीटने वाले और बात-बेबात पर मन की बात करने वाले प्रधानमंत्री इस बात पर मौन है। जो दिल्ली को स्वच्छ बनाने का काम कर रहे हैं अगर उनके घर की माली हालत खराब रहेगी तो वे कैसे दिल्ली को स्वच्छ रखेंगे? क्या सफाई कर्मियों की आर्थिक हालत सही किये बिना और पर्याप्त संख्या में सफाई कर्मचारियों की भर्ती के बिना भारत स्वच्छ बन पायेगा?

सफाई कर्मचारी गटर में नंगे बदन उतरकर गन्दगी को साफ करते हैं जिसके चलते वे कई बीमारियों का शिकार हो जाते हैं। इनकी न कोई अच्छी तनख्वाह है, न स्थायी नौकरी, कोई मेडिकल कार्ड की सुविधा भी नहीं मिलती है। जबकि इस देश के सांसद की तनख्वाह 3 लाख रुपये है और हर तरीके का भत्ता है, फिर भी उनको मेडिकल कार्ड की सुविधा मिलती है। आखिर जो सरकार स्वच्छ भारत अभियान का नारा दे रही है, वह भारत को स्वच्छ बनाने वाले सफाई कर्मचारियों के साथ यह अन्याय क्यों कर रही है? दरअसल स्वच्छ भारत अभियान एक इवेंट मैनेजमेंट हो गया है, जिसमें चार लोग हाथ में झाड़ू लेकर फोटो खिचवाते हैं।

सरकार स्वच्छता अभियान केवल विज्ञापनों में चला रही है। अगर सरकार सचमुच में हिन्दुस्तान को साफ-सुथरा रखना चाहती तो इन सफाई कर्मचारियों की आर्थिक स्थिति में सुधार करती और दिल्ली ही नहीं पूरे देश में सफाई कर्मचारियों की भर्ती भी करती। लेकिन सरकार की मंशा तो पहले से सफाई के काम पर लगे कर्मचारियों को भी हटाने की है।

--राजकमल

बैंक कर्मियों की आत्महत्या : जिम्मेदार कौन?

बैंक कर्मियों का आरोप है कि काम के बढ़ते दबाव के कारण वे मानसिक दबाव महसूस कर रहे हैं जिससे वे अपनी निजि जिन्दगी में न खुश रह पा रहे हैं न अपने लोगों से ठीक से बात ही कर पा रहे हैं। उन पर लोन की रिकवरी को लेकर लगातार दबाव बनाया जाता है और एक लक्ष्य दिया जाता है जिसके अन्तर्गत उन्हें अपने बैंक शाखा में एनपीए(गैर निष्पादित सम्पत्ति) की तरफ जा रहे खातों को सुचारू रूप से नियमित करना और खाताधारकों से किसी तरह भी पैसे वसूल करना होता है। अगर वे इस लक्ष्य को पूरा करने में सफल नहीं होते हैं तो उन्हे नौकरी को लेकर डराया और जलील किया जाता है जिसकी वजह से वे अवसाद का शिकार हो जाते हैं। बैंक कर्मचारियों के संगठन नेशनल ऑर्गनाइजेशन ऑफ बैंक वर्कर्स की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2015 में लगभग 103 बैंक अधिकारियों और कर्मचारियों ने आत्महत्या की है। अगले ही वर्ष 2016 में पुणे में सिन्डिकेट बैंक के राजगुरू नगर की शाखा के प्रबंधक ने काम के दबाव के कारण आत्महत्या की। इसी वर्ष गुजरात में एसबीआई थरठ शाखा के प्रेमशंकर प्रजापती नाम के एक कैशीयर ने पंखे से लटककर अपनी जान दे दी। इस घटना के बाद प्रेमशंकर की पत्नी ने बताया कि जब वे बैंक से घर आते तो काम को लेकर तनाव में रहते थे। वह बताते थे कि यहाँ काम का बहुत दबाव है। वह तनाव में रहने के कारण ज्यादा बात नहीं करते थे।

प्राप्त आँकड़ों के अनुसार, 2018 में 29 मई को सिन्डिकेट बैंक के एसआर कॉलेज के शाखा प्रबन्धक, 12 जून को एसबीआई के शाखा प्रबन्धक सुरेश राणा, 7 जूलाई को विशाखपत्तनम में ऑफिसर गंगा भवानी, 14 जूलाई को एसबीआई पार्वतीपूरम शाखा के प्रबन्धक अचु आर चन्द्रन, 15 सितम्बर को एसबीआई टीटागढ़ में ऑफिसर रतनदीप नावक, 23 सितम्बर को बीओआई गाँधीनगर के क्षेत्रीय प्रबन्धक अखिलेश जलोटा, 1 अक्टूबर को इन्डियन बैंक में शाखा प्रबन्धक ताडों जिबायिग, 2 अक्टूबर को प्रोदात्तूर में कॉरपोरेशन बैंक में ऑफिसर सन्दीप रेड्डी इत्यादि ने भी अपनी जान दे दी या यूँ कहें कि इस व्यवस्था ने इन्हें लील लिया।

सभी के सुसाइड नोट में मुख्य रूप से एक-सी घटना का जिक्र किया गया है कि वे बैंक के काम को लेकर दबाव महसूस कर रहे हैं। इनमें से एक कर्मी ने अपनी पत्नी से कहा कि लोन की रिकवरी मेरे जीवन की खुशी को खा रहा है। ऐसे बयान रोंगटे खड़े कर देने वाले हैं। क्या कोई रोजगार इसलिए करता है कि वह अपनी खुशियों का गला घोंट दे और खुद को एक नीरस और अवसादग्रस्त जीवन में ढाल ले? आखिर क्यों आत्महत्या के मामले दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं?

बैंक कर्मी अक्सर शिकायत करते हैं कि उन्हें बैंक में देर तक रोका जाता है और दिन-भर के कामों का पूर्ण रूप से निपटारा करने के बाद ही घर जाने की अनुमति मिलती है। उनका यह भी कहना है कि उनसे 10-16 घण्टे रोजाना काम लिया जाता है। उन्हें बैंक कर्मी के तौर पर काम करने के अलावा सरकार की तमाम योजनाएँ भी लागू करना हैं। इन योजनाओं में अटल पेंशन योजना, मुद्रा बैंक योजना, प्रधानमंत्री जीवन ज्योति बीमा योजना, इत्यादि है जिसे लागू करने के लिए बैंक कर्मीयों ने अतिरिक्त कर्मचारियों की माँग की। लेकिन अब तक इस पर कोई सुनवाई नहीं हुई, जिसके कारण उन पर काम का अतिरिक्त भार बढ़ गया। बैंकों के विलय के कारण खातों को, एटीएम मशीनों के एकीकरण को लेकर पैदा हुए अतिरिक्त कामों का भार भी इनके ऊपर ही आ गया। जबकि इन अतिरिक्त कामों का उन्हें कोई भुगतान नहीं दिया गया।

बैंक कर्मियों पर अक्सर यह आरोप लगाये जाते हैं कि बैंक उनकी वजह से घाटे में चल रहे हैं जबकि घाटे की मुख्य वजह बड़े कारोबारियों को कर्ज दिया जाना और उनका वापस न आना है। 2013-15 के दौरान कारोबारियों द्वारा बैंक से लिया गया 1.14 लाख करोड़ रुपये बट्टा खाते में डाल दिये गये हैं। कारोबारियों द्वारा बैंकों के हजारों करोड़ रुपये हजम करने के बावजूद भी ऐसे अनेकों अन्य कारोबारियों को कर्ज देने के लिए बैंको के नियमों में नरमी बरतने का कार्य किया जा रहा है।

ऐसी सम्भावना है बैंकों के विलय के कारण बैंक कर्मियों की छँटनी की जायेगी। विलय के बाद वर्ष 2018 में 2.25 लाख करोड़ रुपये का बैड लोन बढ़ गया है। इस बढ़ते बैड लोन के लिए बैंक कर्मी जिम्मेदार हैं या बैंकों को संचालित करने वाली संस्था? लेकिन इसका ठिकरा भी फोड़ा जाता है -- बैंककर्मी और शाखा प्रबन्धकों पर।

इस तरह के दबाव में कार्य करना एक स्वस्थ मस्तिष्क वाले व्यक्ति को भी अवसाद-ग्रस्त कर सकता है। यह किस तरह की व्यवस्था है जो किसी के सामने ऐसी परिस्थितियाँ खड़ी कर देती है जिससे वह आत्महत्या करने को मजबूर हो जाता है? किसी सरकारी पद पर स्थायी तौर पर कार्यरत व्यक्ति यदि अपनी नौकरी से परेशान होकर आत्महत्या कर लेता है तो यह बात हमें सोचने के लिए मजबूर कर देती है। लेकिन क्यों व्यवस्था संचालकों को ये घृणित और अमानवीय घटनाएँ और इनके कारण दिखायी नहीं देते बल्कि इसके उलट हम यह पाते हैं कि इन घटनाओं का कारण इस व्यवस्था के अन्दर ही निहित है और दिन-प्रतिदिन ये घटनाएँ बढ़ती ही जा रही हैं। इस तरह की घटनाओं से निजात पाने का बस एक ही उपाय है कि इस पूरी व्यवस्था को ही बदल दिया जाये जो ऐसी जघन्य घटनाओं को पैदा करती है और बढ़ावा देती है।

--जुनूनी विशाल

न्यूज चैनल : जनता को गुमराह करने का हथियार

देश की प्रगति के लिए समाचार पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ न्यूज चैनलों की भी अहम भूमिका होती है। इनका काम जनता के सामने सही चीजों को पेश करना होता है। लेकिन आज ये अपनी मुख्य भूमिका को भूलकर जनता को गुमराह करने का काम कर रहे हैं।

याद कीजिए वर्ष 2014 को जब चैनलों पर पानी की तरह पैसा बहाया गया था। ऐसा कोई न्यूज चैनल नहीं था जहाँ मोदी भावी प्रधानमंत्री के रूप में छाये न रहे हों। चैनलों ने कमाल दिखाया और मोदी पूरे बहुमत से भारत के प्रधानमंत्री बनकर आये। उसके बाद से अब तक इन चैनलों पर जो भी कार्यक्रम दिखाये जा रहे हैं उनका सरोकार आम जनता की मूलभूत जरूरतों से बिलकुल नहीं है। हर दिन ऐसे-ऐसे कार्यक्रम दिखाये जा रहे हैं जो जनता की चेतना को कुन्द कर रहे हैं। इनके जरिये जनता को जातिवादी, साम्प्रदायिक, स्वार्थी और उपभोक्तावादी बनाया जा रहा है।

आज अधिकांश न्यूज चैनल निजी कम्पनियों द्वारा नियंत्रित हैं। 30 मई 2014 को देश के सबसे बड़े पूँजीपति मुकेश अम्बानी ने कई चैनलों को 4000 हजार करोड़ में खरीद लिया जिनमें आईएन डॉटकॉम, आईबीएन डॉटकॉम, लाइव डॉटकॉम, मनी कंट्रोल डॉटकॉम, फर्स्ट डॉटकॉम, क्रिकेट नेक्स्ट, होमशाप 18, बुक माई शो डॉटकॉम के अलावा कलर्स, सीएनबीसी टीवी जैसे चैनल शामिल हैं। इन चैनलों पर कौन सी खबर प्रसारित करनी है ये इन्हीं द्वारा तय होता हैं।

ये चैनल खासकर भारत के लोकतंत्र की हत्या करने में लगे हैं। पिछले पाँच सालों के दौरान इन चैनलों की बहसों को देखें तो आपको पता चल जायेगा कि ये आपको क्या बनाना चाहते हैं। अधिकांश न्यूज चैनलों की प्राइम टाइम बहसों का मकसद वैज्ञानिक नजरिये और लोकतान्त्रिक संवाद को बढ़ावा देना नहीं बल्कि लोगों के अन्दर डर पैदा करना तथा उनकी चेतना को खत्म करना है। बहस के अधिकांश मुद्दे बुनियादी सवालों से ध्यान भटकाने वाले नकली मुद्दे होते हैं। इनकी अधिकांश बहसों में गिने-चुने लोग होते हैं, जिन्हें जनता के सामने संकीर्ण विचार परोसने की पूरी आजादी होती है। इन बहसों से फासीवादी ताकतों और हिन्दुत्ववादी संगठनों से लेकर कट्टरपंथी-पोंगापंथी मौलवियों को संकीर्णता फैलाने तथा प्रगतिशील मूल्य-मान्यताओं को पीछे धकेलने में मदद मिलती हैं। चैनलों का यह रूप व्यवस्था तथा सरकार को फायदा पहुँचाता है। इन सभी चैनलों की भूमिका अब बस राजा का बाजा बजाने, उनका गुणगान करने तक ही सीमित है, वे पूँजीपतियों, खिलाड़ियों और धर्मगुरुओं का जीवन दर्शन दिखाते रहते हैं कि कौन-कैसे-कितना मालमाल हो गया। दूसरी ओर शिक्षा, स्वास्थ, बेरोजगारी, भुखमरी, महँगाई जैसी चीजों को ऐसे दिखाते हैं, जैसे लगता है कि मुहल्ले की नाली जाम हो गयी हो।

खबर की जगह धारावाहिक, जैसे-- (सास-बहू, बिग-बॉस, नागिन, रियलिटी सो, कॉमेडी सरकश आदि), फिल्मों का प्रमोशन, अमिताभ बच्चन, शाहरुख खान, कैटरीना, सचिन तेन्दुलकर जैसे सेलिब्रिटी के खाँसने-छींकने, किसी एक्ट्रेस के गर्भवती होने की खबरों से भरे होते हैं। मेंढक-मेंढकी की शादी तथा अपराध की खबरों का नाट्य रूपान्तरण दिखाने वाले ये चैनल समाज को मूर्खता और अपराध के दलदल में ले जा रहे हैं। वे आधी रात के बाद न्यूज के नाम पर फर्जी सामानों का अंधविश्वासी विज्ञापन दिखाते हैं। निर्मल बाबा, बाबा रामदेव जैसे लोगों की दुकान खड़ी कर इन्हें सेलीब्रिटी बना देते हैं। इससे साफ पता चलता है कि ये लोग पैसा देकर कोई भी न्यूज या विज्ञापन चलवा सकते हैं और जनता की आँखों में धूल झोंक सकते हैं। भूमण्डलीकरण के आगमन के साथ निजी न्यूज चैनलों का बहुत तेजी से प्रसार हुआ है। हर चैनल का एक ही ध्येय है ऊँची टीआरपी, यानी अधिक से अधिक पैसा कमाना। जैसे-जैसे इनका प्रसार हो रहा है वैसे-वैसे ये जनहित के अपने असली कामों को छोड़ते चले जा रहे हैं।

केबल के माध्यम से जनता तक न्यूज पहुँचाने वाले ये चैनल हर साल अरबों रुपये अवैध तरीके से केबल कम्पनियों को बाँटते हैं। अब तो न्यूज चैनल डिश सेवा प्रदाता कम्पनियों को भी करोड़ों रुपये देते हैं ताकि उनके चैनल को ज्यादा-से-ज्यादा दिखाया जाये। केबल कम्पनियों के सहारे बनने वाली टीआरपी किसी भी न्यूज चैनल या मनोरंजन चैनल की मुख्य चिन्ता होती है। इनका असर विज्ञापन बाजार से लेकर सरकार तक पर होता है जो खास चैनल को देखने की टीआरपी तय करते हैं। चाहे न्यूज चैनल हो या मनोरंजन चैनल ये प्रसारित सामग्री में पैसा लगाने के बजाय केबल कम्पनियों में पैसा खर्च करते हैं। टीवी पर केबल के माध्यम से 70-80 चैनल ही एक बार में दिखाये जा सकते हैं, तो बाकी के चैनल खुद को स्क्रीन तक पहुँचने में कितना रुपया खर्च करते होगे। और रुपया खर्च करना हो ही टीआरपी यानी मुनाफे के लिए तो ये जनता के लिए कैसे हो सकते हैं। देश में कोई ऐसा राज्य नहीं है जहाँ सत्ताधारियों तथा निजी कम्पनियों के मालिकों

का केबल कम्पनियों पर कब्जा न हो, यही कब्जा उन्हें न्यूज चैनलों के चंगुल से भी बचाये रखता है क्योकि किसी भी सत्ताधारी के खिलाफ आवाज उठाने पर अगर उस चैनल को केबल कम्पनियाँ ही दिखाना बन्द कर दें तो फिर खबर का मतलब ही क्या होगा?

आज क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर निजी धंधेबाजों को ही चैनलों का लइसेंस दे दिया गया है। उनका सबसे बड़ा हुनर टीआरपी बढ़ाना है। चैनलों में वेतन सबसे ज्यादा उसी सख्स को दिया जाता है जो चैनल का टीआरपी बढ़ाता है। आज भारत एक ऐसे दौर से गुजर रहा है, जहाँ साम्प्रदायिकता और नफरत तेजी से बढ़ रही है। चैनलों के माध्यम से बहस के नकली मुद्दे सजाये जा रहे हैं, जिससे जनता का कोई सरोकार नहीं हैं। धर्म की रक्षा के लिए लोगों को उकसाया जा रहा है। हिन्दू-मुस्लिम की बहस अपने चरम पर है। इस बहस का एक ही मकसद है, बड़ी संख्या में युवाओं को दंगाई बनाना।

इन सभी तथ्यों से पता चलता है कि आज जितने भी चैनल हैं वे सरकार तथा पूँजीपतियों के हित साधने में लगे हैं। आज हमें वैकल्पिक न्यूज चैनलों की जरूरत है जो जनता की समझ को बढ़ायें।

--शैलेश

वैश्वीकृत दुनिया बच्चों की कब्रगाह बन गयी है

18 सितम्बर को जारी विश्व स्वास्थ्य संगठन और संयुक्त राष्ट्र संघ की संयुक्त रिपोर्ट के अनुसार 2017 में पूरी दुनिया में 63 लाख बच्चों की मौत ऐसी बीमारियों से हुई जिनका इलाज सम्भव था। यानी हर 5 सेकण्ड में एक बच्चा दुनिया के शासकों की नीतियों का शिकार हो गया है।

2017 में 25 लाख बच्चों की मौत उनके जन्म के पहले ही महीने में हो गयी। 54 लाख बच्चे उम्र के 5 साल पूरे करने से पहले ही काल के गाल में समा गये।

बच्चों की मौत के मामले में शासक और शासित देशों का फर्क स्पष्ट दिखायी देता है। उप-सहारा अफ्रीकी देशों और दक्षिण एशियाई देशों में बच्चों की मृत्यु दर अमरीका और यूरोप से 9 गुना ज्यादा है।

वैश्वीकरण ने दुनिया में गैरबराबरी को इस हद तक बढ़ा दिया है कि उप-सहारा अफ्रीकी देशों में बाल मृत्यु दर यूरोप से 15 गुना ज्यादा है। गाँवों में यह शहरों से औसतन 50 प्रतिशत ज्यादा है। अनपढ़ महिलाओं के बच्चों की मृत्यु दर पढ़ी-लिखी महिलाओं से 200 प्रतिशत ज्यादा है।

रिपोर्ट बताती है कि वैश्वीकरण के बाद यानी 1990 के बाद नवजात बच्चों को बचाने की रफ्तार धीमी पड़ गयी है। और 5 साल से कम आयु के अधिकांश बच्चों की मौत हैजा, निमोनिया जैसी बेहद सामान्य बीमारियों से हुई है। यानी शेयर बाजारों के जुए में रोज लाखों-करोड़ों रुपये बनाने और गँवाने वाली दुनिया अपने बच्चों को साफ पानी और दो-चार रुपयों का इलाज भी मुहैया नहीं करा सकती।

बच्चों की कब्रगाह बन चुकी वैश्वीकृत दुनिया के भयावह भविष्य के बारे में यूनीसेफ के शोध और नीति निदेशक लॉरेंस कैंडी ने चेतावनी दी है कि "बच्चों को बचाने के लिए तुरन्त कार्रवाई नहीं की गयी तो 2030 तक 5 साल से कम उम्र के बच्चों की मौत का आँकड़ा 5 करोड़ 60 लाख को पार कर जायेगा, जिनमें से आधे नवजात बच्चे होंगे।"

लॉरेंस बताते हैं कि बहुत साधारण उपाय से इन लाखों बच्चों की जिन्दगी बचायी जा सकती है। उन्हें केवल साफ पानी, बिजली, कुछ बहुत मामूली दवाइयाँ और टीकाकरण चाहिए।

अरबपतियों की यह दुनिया, ये मामूली उपाय भी करने को तैयार नहीं है।

सर्वउपयोगी प्रवासी मजदूर

भारतीय शहरों में लम्बे समय से 'बाहरी लोग' विरोधाभास के साथ रहते आये हैं, जिनमें ज्यादातर अर्द्धकुशल और अकुशल गरीब प्रवासी मजदूर हैं, जो विभिन्न तरह की सेवाएँ प्रदान करते हैं। स्थानीय राजनेता उन्हें बढ़ती बेरोजगारी और अपराध के बढ़ते ग्राफ के लिए दोषी ठहरा सकते हैं, स्थानीय लोग नागरिक सुविधाओं को तबाह करने का कारण बनने के लिए उनके खिलाफ नाराजगी जता सकते हैं, अंधराष्ट्रवादी उनके खिलाफ सांस्कृतिक रूप से सबमें सम्मिलित नहीं होने के लिए गुस्सा कर सकते हैं, और व्यापार और उद्योग वर्ग उनको सस्ते श्रम और सेवाओं के लिए उपयोग कर सकते हैं। शहरों में मध्यम वर्ग के लिए, वे घरेलू सेवाएँ भी प्रदान करते हैं।

हाल के हफ्तों में, गुजरात में, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के रहने वाले मजदूरों ने भीड़ द्वारा हिंसा को झेला। जिससे भयभीत होकर उन्हें राज्य से भागना पड़ा। इसके बाद उन्हें आश्वासन दिया गया कि वे सुरक्षित रहेंगे और उनसे रहने या वापस आने का अनुरोध किया गया। संक्षेप में यह मामला पिछले कुछ सालों में इस तरह के मामलों की एक कड़ी है, असल में लगभग सभी प्रमुख शहरों और कस्बों में गरीब प्रवासी मजदूरों के जीवन को निराशा ने दबोच लिया है।

उत्तर भारतीय श्रमिकों के खिलाफ गुजरात में हिंसा तब शुरू हुई थी, जब बिहार के रहने वाले एक मजदूर पर 28 सितंबर 2018 को एक बच्चे के यौन उत्पीड़न का आरोप लगा। सत्ताधारी भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) ने कांग्रेस और क्षत्रिय ठाकोर सेना के नेता आल्पेश ठाकुर को दोषी ठहराया था। पीड़ित बच्चा ठाकुर परिवार से सम्बन्धित था। ऐसे में उत्तर भारतीय 'भाइयों' पर प्रतिहिंसा और उनकी 'बहुमूल्य' नौकरियों को छीनने का दोष मढ़ना सबसे आसान था। मुम्बई, ऐतिहासिक रूप से ऐसा शहर जो सभी वर्गों और अनपढ़ से लेकर पढ़े-लिखे प्रवासियों से बहुत लाभान्वित हुआ है, फिर भी यहाँ विशेष रूप से द्वारा प्रवासी श्रमिकों को आये दिन क्षेत्रीय दलों की छेड़छाड़ और हिंसा का सामना करना पड़ता है। यह एक प्रसिद्ध और स्वीकार्य तथ्य है कि आर्थिक राजधानी के रूप में मुम्बई की पहचान प्रवासियों के श्रम और सेवाओं की वजह से है। घरेलू वर्ग, विशेष रूप से मध्यम वर्ग इन पर निर्भर है। फिर भी, राजनेताओं और स्थानीय दलों को शहर की पारम्परिक सांस्कृतिक और भाषाई गरिमा को तबाह करने के लिए 'बाहरी लोगों' को दोष देने से कोई नहीं रोकता है।

गुजरात में, उत्तर भारतीय प्रवासी श्रमिकों के घबराहट से पलायन को रोकने का कोई संकेत नहीं दिखा, उद्योग के नेताओं ने श्रमिकों से रुके रहने के लिए अपील की। सभी औद्योगिक केन्द्र तीन दिन तक पूर्ण बन्द या व्यवधान के गवाह रहे, यहाँ पुलिस तैनात की गयी और अन्य सुरक्षा उपाय भी साथ में किये गये थे। गुजरात चैम्बर ऑफ कॉमर्स एंड इन्डस्ट्री ने राज्य के मुख्यमंत्री से हस्तक्षेप करने को कहा। इस तथ्य के अलावा कि गुजरात अपने प्रमुख विनिर्माण और उद्यमशीलता की स्थिति के लिए प्रवासी श्रम पर लम्बे समय से निर्भर है, इससे संकेत मिलता है कि यह उपचारात्मक उपाय जो किया गया वह आने वाले वाइब्रेंट गुजरात ग्लोबल शिखर सम्मेलन के लिए था। जनवरी 2019 और चल रहे त्यौहार के मौसम के लिए इस मेगा आयोजन के साथ, गुजरात सरकार राज्य में कपड़ा, हीरा, फार्मास्यूटिकल, पैकेजिंग और अन्य उद्योगों और सेवाओं के व्यवधानों का सामना करने की अनुमति शायद ही दे सकती है। शायद गुजरात की स्थिति ऐसे ही संकट का सामना करने वाले अन्य राज्यों से अलग है जहाँ उद्योग के नेता श्रमिकों के लिए एक प्रकार का पितृसत्तात्मक संरक्षण भी देते हैं।

आर्थिक रूप से थोड़े बेहतर अन्य राज्य और शहरों की तरह गुजरात का यह संकट भी धूमिल पड़ जायेगा। प्रवासी मजदूरों के रहने और काम करने की परिस्थितियों में किसी भी मायने में बदलाव नहीं आने वाला। भारत में गरीब प्रवासी मजदूर अपने स्थानीय सहकर्मियों के मुकाबले काम की और रहने की ज्यादा खतरनाक परिस्थितियों का सामना करते हैं। चाहे वह कल्याणकारी योजनाओं से लाभ का मामला हो या तनख्वाह और काम की शर्तों के लिए मालिक से सौदा करने की उनकी ताकत का मामला हो, वे बहुत ही ज्यादा कमजोर स्थिति में होते हैं। उनको स्थानीय लोगों द्वारा सिर्फ बाहरी तत्वों के रूप में ही नहीं देखा जाता, बल्कि स्थापित ट्रेड यूनियन भी तमाम कारणों से उनकी अनदेखी कर देती हैं। जैसा कि एक श्रमिक कार्यकर्ता ने बताया कि जहाँ तक सरकार और सुविधाओं की बात है तो ये मजदूर ज्यादातर सभाओं में अनुपस्थित रहते हैं, इनका कोई संगठन नहीं है। प्रवासी मजदूर सुरक्षा और संरक्षण की वजह से उन्हीं कल्याणकारी संगठनों से जुड़ना चाहते हैं, जो क्षेत्रीय पहचान पर आधारित होते हैं।

काबिले गौर है कि केरल की वाम डेमोक्रेटिक फ्रंट सरकार ने राज्य में प्रवासी श्रमिकों की बेहतरी के लिए तमाम तरीकों से रास्ता दिखाया है। उदाहरण के लिए विनिर्माण उद्योग, जिसमें

प्रवासी श्रमिकों की अच्छी-खासी तादात है, उसका राज्य सरकार के साथ 1000 करोड़ रुपये का कल्याण बोर्ड है, सरकार ने प्रवासी श्रमिकों के रहन-सहन का सर्वेक्षण करने की और साथ ही स्वास्थ्य बीमा और कानूनी सहायता देने की भी घोषणा की है।

देश में राजनीतिक वर्ग और भद्रजनों को प्रवासी श्रमिकों के प्रति अपने सनकी और उपयोगितावादी नजरिये को छोड़ने की जरूरत है। सत्ताधारी वर्ग के लिए जब श्रमिकों को भगाना फायदेमन्द होता है तो इन मजदूरों को अपना बचाव अपने आप करने के लिए छोड़ दिया जाता है। उद्योग और सेवाएँ भले ही उनके श्रम से चल रही हों, इनको भीड़ की हिंसा और नाराजगी का सामना करना ही पड़ता है।

हमें यह समझना चाहिए कि सभी नागरिकों को देश में कहीं भी आने-जाने रुकने का मूल अधिकार है। सभी नागरिकों के संवैधानिक अधिकार और कर्तव्यों को समान रूप से संरक्षित किया जाना चाहिए। प्रवासी श्रमिकों को सिर्फ श्रमिक और सेवा करने वाले के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। मजदूर चाहे मौसमी (साल में कुछ महीने शहर में आकार काम करने वाले) हों, अस्थायी हों या फिर लम्बे समय तक रुक कर काम करने वाले हों, सभी शोषण और असुरक्षा का सामना करते हैं। इन पहलुओं को ध्यान में रखकर, देश में कहीं भी आने-जाने की आजादी को लेकर सार्वजनिक और नीतिगत हस्तक्षेप की जरूरत है।

(*'इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल विकली'* पत्रिका से साभार)

अनुवाद : राजेश कुमार

आधार का कोई आधार नहीं

आधार की 'संवैधानिकता और अनिवार्यता' पर सर्वोच्च न्यायालय ने बड़ा फैसला सुनाया है। आखिरकार आधार को संवैधानिक घोषित करते हुए उसमें कई फेर-बदल किये गये हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि आधार को पैन से जोड़ने का फैसला बरकरार रहेगा, परन्तु अब बैंक खाते को आधार से जोड़ना जरूरी नहीं होगा। साथ ही मोबाइल को भी आधार से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस मामले में सुनवाई करने वाली सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गठित पीठ का फैसला एक सुर में नहीं था। एक ओर जस्टिस ए के सीकरी, चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा और जस्टिस खानविलकर का फैसला एक मत में सामने आया। वहीं जस्टिस चन्द्रचूढ़ और ए भूषण की अपनी व्यक्तिगत राय थी। लेकिन जस्टिस ए भूषण ने स्पष्ट किया कि वह बहुमत के फैसले से सहमत हैं। जस्टिस चन्द्रचूढ़ ने पूरे मामले पर अपनी असहमति जताते हुए कहा, आधार का मामला 2009 से ही संवैधानिक तौर पर गलत है और यह संविधान के अनुच्छेद 110 का उल्लंघन है। जस्टिस चन्द्रचूढ़ ने यह भी कहा कि किसी भी व्यक्ति की आजादी को अल्गोरिथम या फॉर्मूले के सहारे नहीं छोड़ा जा सकता है। आज जब मोबाइल हमारे जीवान का अहम हिस्सा है तो आधार को उससे जोड़ना किसी की भी स्वन्तत्रता और स्वायत्तता के साथ खिलवाड़ करना है। जस्टिस चन्द्रचूढ़ ने 'प्रिवेंशन ऑफ मनी लॉन्डरिंग' एक्ट के सम्बन्ध तक में कहा कि हर खाताधारी को धाँधली करने वाला मान लेना अपने आप में ही गलत बात है। सभी आधार डेटा के संग्रह से व्यक्तिगत प्रोफाइलिंग का भी खतरा है।

जस्टिस चन्द्रचूढ़ ने इसके साथ यह भी कहा कि आधार नंबर से संवेदनशील डेटा का दुरुपयोग हो सकता है। इस डेटा का निजी कम्पनियों द्वारा दुरुपयोग किया जा सकता है। यूआईडीएआई के पास डेटा को सुरक्षित रखने का कोई तरीका नहीं है। उनका कहना था कि आधार की बुनियाद पर यह तय करना कि देश के नागरिकों को कल्याणकारी नीतियों में भागीदारी मिलेगी या नहीं, यह अपने आप में नागरिकों को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित करना है। डेटा को सुरक्षित रखने के लिए किसी न किसी तंत्र का होना आवश्यक होता है। जो आज देश में मौजूद नहीं है। इसीलिए देश में आधार के बिना न रह पाने का सरकार का पुराना फरमान अनुच्छेद 14 का उल्लंघन था।

--ईशान

एरिक्सन की सर्वोच्च न्यायालय से अपील अनिल अम्बानी को देश से बाहर न जाने दें

अनिल अम्बानी के देश छोड़कर भागने की आशंका जताते हुए एरिक्सन कम्पनी ने सर्वोच्च न्यायालय में एक अपील दायर करके कहा कि अम्बानी पर कड़ी नजर रखी जाये। अनिल अम्बानी की कम्पनी रिलायंस कम्युनिकेशन (आरकॉम) पर लगभग 45 हजार करोड़ रुपये का कर्ज है। देश के पूँजीपतियों द्वारा बैंकों के कर्ज न चुकाने और देश छोड़कर भाग जाने के सिलसिले को देखते हुए अनिल अम्बानी के देश छोड़कर भाग जाने की सम्भावना चिन्ता का विषय है। अब तक नीरव मोदी 12 हजार करोड़, विजय माल्या 9 हजार करोड़ और ललित मोदी 7 हजार करोड़ रुपये लेकर नौ-दो-ग्यारह हो चुके हैं। देश के ऐसे कई और कारोबारी भी बैंकों के हजारों करोड़ रुपये लेकर रफ्फू-चक्कर हुए हैं।

स्वीडन की टेलिकॉम उपकरण निर्माता कम्पनी एरिक्सन ने 2014 में आरकॉम के टेलिकॉम नेटवर्क के परिचालन और प्रबंधन के लिए 7 साल का करार किया गया था। जिसके चलते आरकॉम पर एरिक्सन का 978 करोड़ रुपये बकाया था जो बढ़कर 1600 करोड़ हो गया। आरकॉम ने 30 सितम्बर 2018 तक 550 करोड़ रुपये चुकाने का वादा किया था लेकिन पैसे नहीं चुका पायी। जिसे लेकर एरिक्सन ने 1 अक्टूबर 2018 को सर्वोच्च न्यायालय में अवमानना याचिका दायर की और अनिल अम्बानी और आरकॉम के दो वरिष्ठ अधिकारियों को देश से बहार न जाने देने की माँग की।

क्या अनिल अम्बानी की हैसियत नहीं है कि वे पैसे चुका सकें? क्या अनिल अम्बानी कंगाल हो गये हैं या फिर ये उनकी बदनीयती है?

पूँजीपतियों द्वारा बैंकों के कर्ज चुकाने में मनमानी करने या देश छोड़ कर भाग जाने की घटनाएँ आये दिन की बात हो गयी हें उन्हें भगाने में सरकार की साँठ-गाँठ के किस्से भी सामने आ रहे हैं। इसके चलते खुद बैंक ही दिवालिया होने की कगार पर पहुँच चुके हैं। बैंकों का दस लाख करोड़ से भी अधिक पैसा एनपीए में चला गया है। मार्च 2015 से मार्च 2018 के बीच 6.2 लाख करोड़ रुपये एनपीए में चले गये। बैंकों की खस्ता हालत होने के बावजूद अति लघु, लघु और मध्यम उद्योग (एमएसएमई) को कर्ज देने के लिए सरकार द्वारा रिजर्व बैंक पर दबाव बनाया जा रहा है और सरकार रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 7 को लागू करके रिजर्व बैंक के क्रियाकलाप में हस्तक्षेप करना चाहती है ऐसा इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ है। रिजर्व बैंक के गवर्नर उर्जित पटेल ने कहा है कि यदि सरकार रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 7 लागू करती है तो वे इस्तीफा दे देंगे।

आज पूँजीपतियों और सरकार के बीच साँठ-गाँठ हो गयी है। वे सरकार से अपने मन मुताबिक नीतियाँ पारित करवाते हैं जिससे उनका मुनाफा अधिक से अधिक बढ़ सके और बैंकों से अधिक से अधिक कर्ज लिया जा सके।

अनिल अम्बानी की कम्पनी आरकॉम पर 45 हजार करोड़ रुपये का कर्ज है, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र के विजया बैंक ने अनिल अम्बानी ग्रुप की अगुवाई वाली रिलायंस नेवल एंड इंजीनियरिंग के कर्ज को एनपीए में डालना पड़ा है। इसके अलावा कम्पनी पर आईडीबीआई बैंक की अगुवाई वाले बैंकों के समूह का 9000 करोड़ रुपये से अधिक का कर्ज था। कर्ज देने वाले बैंकों में अधिकतर सरकारी बैंक थे। इस हालत में एरिक्सन की चिन्ता वाजिब है। कौन जाने अनिल अम्बानी कब उसका रुपया मारकर भाग जाये या सरकार ही उसे भगा दे। हाल ही में अमरीकी संसद की रिपोर्ट में भी सामने आया है कि हजारों भारतीय उससे राजनीतिक शरण माँग रहे हैं।

--अजहर

मलबे का मालिक

शासन करने का
एक ढंग यह है :
सब कुछ मिट्टी में
मिला देना

और फिर मलबे पर
खड़े होकर कहना :
मित्रो!
हमें यह विनाश ही
मिला है
विरासत में

--पंकज चतुर्वेदी

जड़ी-बूटियों की लूट का धंधा

उत्तराखंड को हर्बल प्रदेश बनाने दावे कितने खोखले और हवाई हैं इसे प्रदेश में जड़ी-बूटी उत्पादन की जमीनी हकीकत को देखकर बहुत आसानी से समझा जा सकता है।

उत्तराखंड प्रदेश में मुख्यतः दो तरह की जड़ी-बूटियाँ होती हैं, एक उगायी जाने वाली और दूसरी जंगलों में पायी जाने वाली। उगायी जाने वाली जड़ी-बूटियाँ न के बराबर हैं। 95 प्रतिशत जड़ी-बूटियाँ वे हैं जो प्राकृतिक रूप से यहाँ के जंगलों में पैदा होती हैं।

इन दोनों ही तरह की जड़ी-बूटियों के दोहन की जिम्मेदारी मुख्यतः वन विभाग, भेषज इकाई और जड़ी-बूटी शोध संस्थान की होती है। उगायी जाने वाली जड़ी-बूटियों में कुट, कुटकी, अतीस, जटामाँसी, चिरायता, काला जीरा, तगर, सर्पगंधा, रोजमैरी, बड़ी इलाइची आदि मुख्य हैं। इनकी खेती सर्दियों में गोपेश्वर से केदारनाथ, चमोली, अल्मोड़ा आदि इलाकों में की जाती है। इन सभी जड़ी-बूटियों को उगाने वाले किसानों का पंजीकरण होता है। फिर ये किसान इन्हें रामनगर, टनकपुर, या ऋषिकेश की मंडियों में बेचते हैं।

प्राकृतिक रूप से जंगलों में होने वाली जड़ी-बूटियों को अगर छोड़ दें तो उत्तराखंड में जड़ी-बूटियों की खेती बेहद दयनीय स्थिति में है। जबकि प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियाँ इस तरह की खेती के लिए बेहद अनुकूल मानी जाती हैं। जड़ी-बूटी शोध संस्थान इस दिशा में काम कर भी रहा है लेकिन सरकारी उदासीनता और संसाधनों की कमी के चलते जमीन पर इसका कोई खास असर नजर नहीं आता। इनका दोहन अगर इसी तरह बेरोक-टोक चलता रहा तो पृथ्वी से इनका नामो-निशान मिट जायेगा।

178 जड़ी-बूटियों की माँग प्रति वर्ष सौ टन से अधिक की है। इनमें से कई की आपूर्ति सिर्फ 25-30 टन तक ही हो पा रही, तो अगर किसी कम्पनी को इससे ज्यादा जरूरत है तो वह इनकी आपूर्ति कैसे करती है? सीधी बात है मिलावट करके। तमाम सूखी हुई जड़ी-बूटियों के अन्दर धूल-मिटटी, रेत, रसायन आदि की मिलावट की जाती है। सफाई के दौरान मजदूर इन्हें साँस के जरिये अपने फेफड़े में लेते हैं, जिससे आगे चलकर उन्हें साँस की बीमारी, यहाँ तक कैंसर भी हो जाता है। इसकी जिम्मेदारी लेने वाला कोई नहीं है न मालिक न सरकार।

आयुर्वेदिक दवाओं के नाम से कम्पनियाँ लोगों से ठगी कर के मिलावटी दवा बेच रही हैं, क्योंकि जनता को इन सब जालसाजियों के बारे में नहीं पता है। आयुर्वेदिक दवाइयाँ जिसे हम शुद्धता के नाम से खाते जाते हैं, वे असलियत में कितनी शुद्ध हैं? आयुर्वेदिक दवाइयों में मिलायी जाने वाली कुछ जड़ी-बूटियाँ मौसमी होती हैं और उसकी खपत भी सीमित होती है। लेकिन फैक्ट्री में इनके उत्पादन की कोई सीमा नहीं होती। कैसे? मिलावट के जरिये। बहुत सारी जड़ी-बूटियाँ जो की विलुप्त होने के कगार में हैं, उनका कम्पनियाँ अन्धाधुन्ध दोहन कर रही हैं और सरकार उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं पा रही है।

उत्तराखंड सरकार दोनों तरह की जड़ी-बूटियों के खरीद मूल्य तय करने का काम निजी कम्पनियों के हाथ में दे रही है, जो बिलकुल अन्यायपूर्ण है। इसके चलते न जाने कितने किसान बर्बाद हो जायेंगी। 95 प्रतिशत जड़ी-बूटियाँ जो प्राकृतिक रूप से जंगलों में मिलती हैं, उनके लिए कोई न्यूनतम समर्थन मूल्य तय नहीं होता क्योंकि इन्हें कोई अपनी लागत से नहीं उगाता। इन्हें दूर-दराज के इलाकों से ग्रामवासी अपनी जान पर खेलकर निकालते हैं। बहुत से परिवारों की आय का यह मुख्य जरिया है। ऐसी जड़ी-बूटियों का मूल्य वन विभाग की नीलामी से ही तय होता है। लेकिन अगर इसका जिम्मा निजी कम्पनियों को दे दिया जायेगा तो वे इसे किसानों से कौड़ियों के भाव ले लेंगे। इससे बड़ा अन्याय क्या होगा कि खरीदार ही माल का भाव तय करे। इसके साथ ही कम्पनियाँ जड़ी-बूटियों की बेशुमार लूटपाट कर रही हैं, जो पहाड़ों से पहले ही विलुप्त हो रही हैं। प्रकृति और किसानों, दोनों के साथ यह जानलेवा खिलवाड़ है।

--आलोक पाठक

नजरिया

अगर ईसा मसीह के जन्म का स्तुतिगान करनेवाले सन्त न होते बल्कि सन्तनियाँ होतीं तो क्या होता? वे बतातीं कि ईसा के जन्म के समय मौजूद सन्त खोसे दरअसल उदास थे। उस पूरे खुशी के उत्सव में जहाँ नवजात ईसा अपने दिव्य आभा के साथ थे, सिर्फ सन्त खोसे ही उदास थे। वर्जिन मेरी, फरिश्ते, चरवाहे, भेड़ें, पूरब से आये सन्त सभी तो खुश थे सिर्फ सन्त खोसे के अलावा। पूछे जाने पर वह बोले ''मुझे पुत्री चाहिए थी।''

--एदुआर्दो गालेआनो

जहरीली हवा की गिरफ्त में दिल्ली

जाड़ा शुरू होते ही दिल्ली की हवा दमघोंटू बन जाती है। पिछले महीने कई बार धुएँ की ऐसी धुंध छायी कि दिन में दिखना ही बन्द हो गया। साँस लेने में दिक्कत होने लगी और डॉक्टरों ने इस धुन्ध से बचने की खास हिदायतें जारी कीं।

भारत के केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के द्वारा किये गये सर्वे के अनुसार पिछले एक साल में दिल्ली या दिल्ली के आसपास के इलाके को एक दिन भी मानक पैमाने के अनुसार साफ हवा नहीं मिली। दिल्ली से 160 किलोमीटर दूर राजस्थान के अलवर में लोगों को सिर्फ 2 दिन के लिए तय पैमाने के अनुसार साफ हवा मिली। इण्डियास्पेंड संस्था के अनुसार दिल्ली में प्रदूषण की दिक्कत सर्दियों में ज्यादा हुआ करती थी पर अब पिछले कई सालों से प्रदूषण निरन्तर हर मौसम में एक ही तरह का होता है, जो हमेशा 'खतरनाक' स्तर पर बना रहता है। हाल का दिल्ली की हवा का स्तर 2.5 पीएम है। वैश्विक वायु गुणवत्ता सूचकांक के अनुसार दिल्ली की हवा अब 'हैजाड्र्स' यानी खतरनाक स्तर पर पहुँच गयी है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार साल 2014 में दिल्ली दुनिया के 1600 शहरों में सबसे प्रदूषित शहर था, यहाँ की हवा मानक पैमाने से 10 गुना अधिक प्रदूषित थी जो आज साल 2018 तक भी सबसे प्रदूषित ही है। पूरी दुनिया में सालाना 20 लाख लोगों की अकाल मृत्यु इसलिए हो जाती है क्योंकि उन्हें साफ हवा नसीब नहीं हो पाती। जिसमें से 5 लाख लोग केवल भारत में ही मर जाते हैं। यह आतंकवादी हमलों में होने वाली मौतों से कहीं ज्यादा है। आज दुनिया के 92 फीसद लोगों को साफ हवा नसीब नहीं हो पा रही है।

इस सच्चाई को मान लेना कितना मुश्किल है कि हम एक ऐसे शहर, ऐसे देश और ऐसे गृह पर रहते हैं जो बहुत तेजी से मर रहा है, जहाँ जीव-जन्तुओं की प्रजातियाँ नष्ट होती जा रही है, जहाँ नदियाँ मर रही है, जहाँ जंगल खतम हो रहे हैं, जहाँ जमीन बहुत तेजी से बंजर होती जा रही है, जहाँ का पानी पीना शराब पीने से ज्यादा हानिकारक है, जहाँ की हवा में जहर घुला हुआ है, जो हमारी साँसों के जरिये हमारे फेफड़ों की गहराईयों में ऐसे कचरे की तरह जमा हो रहा है जिसे फिर से निकाला नहीं जा सकता।

इन सब आँकड़ों से साफ है कि हम एक तरह के अदृश्य जहर के नरक में रहकर अपनी मौत का इन्तजार कर रहे हैं। वायु प्रदूषण का क्या कारण है और इस का जिम्मेदार कौन है? इसका क्या समाधान हो सकता है? हमें इन सवालों का जवाब ढूँढने में लग जाना चाहिए।

वायु प्रदूष्ण के चलते पेड़-पौधे और जीव-जंतुओं के विकास में बाधा उत्पन्न होनी शुरू हो गयी है, कई जीव विलुप्त हो गये हैं, कई वनस्पति मरने लगी हैं और नयी-नयी भयानक बीमारियाँ फैलनी शुरू होती जा रही हैं। वायु के दूषित होने का मुख्य कारण है-- फैक्ट्री, पॉवर प्लांट्स और पेट्रोल-डीजल से चलने वाले वाहनों से निकलने वाला जहरीला धुआँ।

--सनी

न्याय

1997 में ब्राजील के सान पाब्लो शहर की एक सड़क पर सरकारी प्लेट लगी एक मोटरकार बिलकुल सामान्य गति से चली आ रही थी। उस नयी और महँगी कार में तीन लोग सफर कर रहे थे। चौराहे पर एक पुलिसवाले ने उन्हें रोक दिया। उसने उन्हें कार से नीचे उतारकर करीब एक घण्टे तक उल्टे मुँह, दोनों हाथ ऊपर किये खड़ा रखा। इस दौरान वह उनसे बार-बार यह पूछ रहा था कि वह कार उन्होंने कहाँ से चुरायी है।

वे तीन लोग अश्वेत थे। उनमें से एक, एदिवाल्दो ब्रितो, सान पाब्लो सरकार के न्यायिक सचिव थे। बाकी दो सचिवालय के कर्मचारी थे। ब्रितो के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी। एक साल से भी कम समय में उनके साथ यह पाँच बार हो चुका था। जिस पुलिसवाले ने उन्हें रोका था वह भी अश्वेत था!

--एदुआर्दो गालेआनो

?

बेघरों के देश में तब्दील होता ब्रिटेन

तीसरी दुनिया के गरीब देशों में लोगों का बेघर होना या फुटपाथों और रैन बसेरों में जिन्दगी काटना आम बात है। लेकिन दुनिया के सरताज देशों की जनता बेघर होने लगे तो यह बेहद गम्भीर मामला बन जाता है।

पिछले कुछ सालों में लन्दन की गलियाँ रंग-बिरंगे तम्बुओं से भर गयी हैं। मन्दी के चलते बन्द पड़े बाजारों के फुटपाथों और शीशा जड़ी बहुमंजिला इमारतों के सामने की खाली जगहों को कुछ दिन या कुछ घण्टों के लिए अपना ठिकाना बनाने के लिए लन्दन के बेघर आवारागर्दों के बीच मारा-मारी मचती है। पुलिस उन्हें एक जगह से खदेड़ती है तो वे दूसरी जगह अपना तम्बू गाड़ देते हैं। बेघरों की इस भीड़ में दुधमुँहे बच्चों से लेकर नौजवान लड़के-लड़कियाँ, औरत-मर्द, बच्चे-बूढ़े, शादीशुदा और छड़े सब हैं।

अकेले लन्दन शहर में बेघरों की संख्या 1,70,000 से ज्यादा है। इंग्लैण्ड और वेल्स में इनकी संख्या 3,20,000 से ज्यादा है। मिडलैंड और यार्कशायर में बेघरों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। पूरे ब्रिटेन में बेघरों की संख्या में 4 फीसदी सालाना की बढ़ोतरी हो रही है। सबसे ज्यादा चिन्ता की बात यह है कि सरकार द्वारा लगातार घर मुहैया कराने के बावजूद बेघरों की संख्या घटने के बजाय तेजी से बढ़ रही है। ब्रिटेन के हाउसिंग एण्ड कम्युनिटीज मंत्री जेम्स ब्रोकनशायर का कहना है कि "सरकार बेघरों को घर देने के लिए 1.5 अरब डॉलर से ज्यादा दे रही है लेकिन समस्या के समाधान के लिए बहुत कुछ किया जाना बाकी है।"

कुछ दशकों पहले तक जिसके राज्य में कभी सूरज नहीं डूबता था आज वह अपने नागरिकों को भरपेट खाना भी नहीं दे सकता। ब्रिटेन में भिखमंगों को खाना देने वाले फूड बैंकों की संख्या तेजी से बढ़ी है। इसके बावजूद इन फूड बैंकों से खाना लेने वालों की कतारें इतनी लम्बी हो जाती हैं और ऐसी मारा-मारी मचती है कि पुलिस लगानी पड़ती है।

इंग्लैण्ड के समाज की तबाही का एहसास करने के लिए एक ही तथ्य काफी है कि आत्महत्या की घटनाओं को रोकने के लिए सरकार को अलग से एक मंत्री की नियुक्ति करनी पड़ी है। सरकार ने सभ्रांत लोगों से अकेले रहने वाले लोगों का खास ध्यान रखने की गुजारिश की है।

टेलीविजन और सिनेमाघरों में हम ब्रिटेन की जो छवि देखते हैं वह रइसों के ब्रिटेन की होती है। उससे हमें गरीब मेहनतकश ब्रिटेन की जनता की जिन्दगी का पता नहीं चलता। ऊपर दिये गये तमाम तथ्य किसी मनगढ़ंत कहानी का हिस्सा नहीं हैं बल्कि नवम्बर माह में ब्रिटेन के दौरे पर गये संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकारी फिलिप एस्टन की रिपोर्ट में दर्ज हैं।

वैश्वीकरण की नीतियाँ आज तीसरी दुनिया की मेहनतकश जनता के शरीर से खून की आखिरी बूँद तक निचोड़ ले रही है। वही नीतियाँ ब्रिटेन की जनता को भी खून के आँसू रुला रही हैं। तीसरी दुनिया की सरकारों की तरह ब्रिटेन की सरकार ने भी पिछले आठ सालों से सार्वजानिक खर्चों में भारी कटौती की है और बहुत सी कल्याणकारी योजनाओं को बन्द कर दिया है।

यह वही ब्रिटेन था जिसे अपने उद्योगों और बैंकों पर फख्र था। बेहद कम जनसंख्या और बेहद छोटे क्षेत्रफल के बावजूद यह आज भी दुनिया की पाँचवे नम्बर की अर्थव्यवस्था है। लेकिन पूरी दुनिया को लूटकर भी यह अपने देश की बेहद कम आबादी का पेट नहीं भर पा रहा है। वैश्वीकरण की असफलता का इससे बड़ा सबूत क्या हो सकता है। यह वैश्वीकरण दुनिया के लुटेरों का वैश्वीकरण है। यह न तो पहली दुनिया की जनता को अच्छा जीवन दे सकता है, न ही दूसरी और तीसरी दुनिया की जनता को।

लुटेरों के वैश्वीकरण ने पूरी दुनिया की मेहनतकश जनता को केवल जख्म दिये हैं। इसी क्षत-विक्षत दुनिया पर ये इतिहास के अन्त की घोषणा करते हैं। पूरी दुनिया की मेहनतकश जनता मिलकर वैश्वीकरण के अन्त की घोषणा क्यों न कर दे। ब्रिटेन की बेघर आबादी इसी भविष्य की ओर इशारा कर रही है।

अस्मिता

"मेरे पुरखे कहाँ हैं? मैं किनका उत्सव मनाऊँ? अपनी अस्मिता का कच्चा माल कहाँ ढूँढू? मेरा सबसे पहला अमरीकी पूर्वज... एक मूलवासी था। समय की शुरुआत का एक मूलवासी। आपके पूर्वजों ने जीते-जी उसका 'विकास' कर डाला और अब मैं उसका एक अनाथ अंश हूँ।"

(मार्क ट्वेन के शब्द जो एक गोरे थे। न्यूयार्क टाइम्स में 26 दिसम्बर, 1891 को प्रकाशित।)

खस्ताहाल अस्पताल

लोगों के लिए वरदान माने जाने वाले अस्पताल आज अभिशाप में तब्दील हो गये हैं। हाल ही की एक खबर में बताया गया कि दिल्ली के महर्षि वाल्मीकि अस्पताल में पिछले 20 दिनों में डिप्थीरिया से पीड़ित 20 बच्चों की मौत हुई है। डिप्थीरिया से पीड़ित बच्चों की मौत का कारण कुछ और नहीं बल्कि साल दर साल अस्पतालों में सुविधाओं की भारी कमी है। बेहतर स्वास्थ्य सुविधाओं के नाम पर पिछले कुछ वर्षों में निजी अस्पतालों को बढ़ावा दिया गया है। इन निजी स्वास्थ्य संस्थानों की फीस इतनी ज्यादा है कि गरीब आदमी यहाँ अपना इलाज नहीं करा सकता। इसके बाद आम इनसान के पास एक ही रास्ता बचता है, वह है सरकारी अस्पताल। लेकिन सरकारी अस्पतालों की हालत इतनी खराब कि यहाँ इजाल के बजाय रोग मिलता है। यहाँ दवाइयों, बिस्तरों, सफाई और उपकरणों की भारी कमी होती है।

भारत के अस्पतालों में बुनियादी सुविधाओं में कमी के चलते हर साल 8 लाख 38 हजार लोग असामयिक मौत के शिकार हो जाते हैं। यह संख्या 1994 के रवांडा नरसंहार में मारे गये कुल लोगों से अधिक है। जबकि खराब इलाज के चलते हर साल 16 लाख लोग असामयिक मौत के शिकार होते हैं।

जनसत्ता अखबार की एक खबर के अनुसार, दिल्ली के एक सरकारी अस्पताल में 7 हजार मरीजों के लिए सिर्फ 960 बिस्तर, 10 आपरेशन थिएटर और 8 आईसीयू बेड हैं। एक्सरे और अल्ट्रा साउंड जैसी जाँच के लिए मरीजों को हफ्तों तक का इन्तजार करना पड़ता है। यहाँ मरीजों को दिये जाने वाले वैक्सीन और इंजेक्शन जरूरत के समय उपलब्ध नहीं होते। ग्लूकोस ट्यूब की कमी के चलते मरीज एक्स्पायर ग्लूकोस ट्यूब में अपने सैंपल देने को मजबूर हैं। इस अस्पताल के कोने-कोने में गन्दगी फैली मिली है। मरीजों को लाने-ले जाने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली स्ट्रेचर और व्हीलचेयर भी टूटी पड़ी हैं। कमाल की बात यह कि इसके बावजूद इन अस्पतालों में इलाज के लिए बहुत मुश्किल से नम्बर आता है।

नवभारत टाइम्स की एक खबर के अनुसार दिलशाद गार्डन के स्वामी दयानन्द अस्पताल की जिस बिल्डिंग में ऑपरेशन हो रहा था उसकी हालत एकदम जर्जर थी। वहाँ आर्थो डिपार्टमेन्ट (हड्डी) के मरीजों को 2 से 3 महीने बाद का समय दे दिया जाता है। जबकि ऐसे मरीजों का इलाज तुरन्त होना चाहिए। अस्पताल बिल्डिंग के अन्दर कुत्ते घूमते रहते है। खाना भी साफ-सफाई से नहीं बनाया जाता और शौचालय नाकाबिले इस्तेमाल हैं जो बीमारी को और बढ़ावा देते है। महिलाओं को प्रसव के दौरान भी कोई अच्छा इलाज नहीं दिया जाता, जिससे कितनी ही महिलाओं को अपनी जान गँवानी पड़ती है।

इससे पता चलता है की सरकार लोगों की स्वास्थ्य और सुरक्षा को लेकर बिल्कुल भी चिन्तित नहीं है। पिछड़े, निर्धन और साधनहीन देश भी इस मामले में हमारे देश से बेहतर स्थिति में हैं। हम बांग्लादेश, नेपाल, भूटान जैसे छोटे देशों से भी बेकार स्थिति में है।

जो सरकार अपने निकम्मेपन से लाखों लोगों की जान ले ले उससे बड़ा हत्यारा कौन होगा।

--कोमल

दोस्ती और दुश्मनी

मैं और हमारे नुक्कड़ का वो दुकानदार
हम दोनों बेहद अज्ञात हैं अमरीका में
फिर भी
चीन से स्पेन, गुडहोप में अलास्का तक
सागर और धरती के हर कोनें में हैं मेरे दोस्त
और दुश्मन
दोस्त ऐसे जो एक बार भी नहीं मिले
फिर भी हम मर सकते हैं साझा रोटी
साझा आजादी, साझा सपने के लिए
और शत्रु ऐसे जो प्यासे हैं मेरे खून के
मैं भी प्यासा हूँ उनके
मेरी शक्ति
है कि मैं अकेला नहीं हूँ इतनी बड़ी दुनिया में
दुनिया और उसके लोग अज्ञात नहीं हैं
मेरे मन के लिए
रहस्य नहीं हैं मेरे विज्ञान के लिए
सहज ही और खुल्लमखुल्ला
मैंने ले ली अपनी जगह
महान संघर्ष में

- नाजिम हिकमत

बहुमंजिली इमारत से गिरकर मरते मजदूर

क्या आपने कभी शहतूत देखा है
जहाँ गिरता है, उतनी जमीन पर
उसके लाल रस का धब्बा पड़ जाता है,
गिरने से ज्यादा पीड़ादायी कुछ नहीं,
मैंने कितने मजदूरों को देखा है
इमारतों से गिरते हुए,
गिर कर शहतूत बन जाते हुए।
--सबीर हका (ईरान के मजदूर कवि)

हाल ही में नोएडा सेक्टर-94 में एक निर्माणाधीन बहुमंजिली इमारत ढह गयी। इस हादसे में चार मजदूरों की मौत हो गयी और पाँच मजदूर घायल हो गये। वहाँ काम करने वाले मजदूरों ने बताया कि उन्हें काम करते समय न ही कोई सुरक्षा उपकरण दिये जाते हैं और न ही कोई अन्य सुविधा। मजदूरों ने बताया कि यह घटना शटिरिंग को जोड़ने वाली सेफ्टी पिन के ढीली रहने की वजह से हुई। जिसमें रेत से भरे एक ट्रैक्टर ने टक्कर मारदी और इमारत गिर गयी।

यह निर्माण कार्य 2010 में शुरू हुआ था। ओखला चौकी प्रभारी गिरिश चन्द की शिकायत पर इसका निर्माण रोकने की बात हुई तब राष्ट्रीय हरित प्राधिकरण ने भवन निर्माण का काम बीच में ही रुकवा दिया। उसके बाद 2017 में अनुमति मिलने के बाद निर्माण कार्य बिना किसी जाँच के दुबारा शुरू कर दिया गया। दुर्घटना की तमाम सम्भावनाओं के बावजूद भी मजदूरों को कोई सुरक्षा उपकरण नहीं दिये गये। निर्माण कार्य के मालिकों ने मजदूरों की जान की कोई परवाह नहीं की।

ऐसी ही दूसरी घटना 30 अक्टूबर की नोएडा के दून इंटरनेशनल पब्लिक स्कूल की है। वहाँ भी बिल्डिंग गिरने से 5 मजदूरों की मौत हो गयी और 14 मजदूर घायल हो गये। वहाँ काम कर रहे मजदूरों ने बताया कि यह घटना एक बड़े सभागार में लिंटर डालने के लिए बीम का इस्तेमाल न करने से हुई।

सरकार मजदूर कानूनों में फेर-बदल करके मजदूरों को मिलने वाले कानूनी हकों को भी छीन चुकी है। मजदूरों की सुरक्षा का ध्यान रखे बिना लगातार शोषण किया जाता है। उन्हें बुरे से बुरे हालात में 14 से 16 घण्टे काम करना पड़ता है, काम का सही दाम नहीं दिया जाता। अगर कोई मजदूर हादसे का शिकार होता है तो मालिक मुआवजा तो दूर मजदूरों को पहचानने से भी इनकार कर देते हैं। मजदूरों के साथ-साथ उसके परिवार की हालात भी दयनीय होती है। मजदूर अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा नहीं सकता क्योंकि उसे तो पेट भरने तक की मजदूरी भी मुश्किल से मिलती है। महिला मजदूरों की स्थिति तो और भी बदतर है। आर्थिक शोषण के साथ ही मालिक उनका यौन शोषण भी करते हैं।

एक आँकड़े के अनुसार हर 2 घण्टे में 3 मजदूर मौत का शिकार हो जाते हैं। यानी हर साल इस तरह के निर्माण में लगे 11,614 मजदूर बेमौत मारे जाते हैं। जबकि ज्यादातर मौतों को महज चन्द सुरक्षा उपकरणों का इन्तजाम करके रोका जा सकता है। मालिक अपने मुनाफे की हवस को पूरा करने के लिए मजदूरों की जिन्दगी निगल लेता है। लूट-खसोट पर टिकी इस व्यवस्था के चलते आज मजदूर गुलामों जैसी जिन्दगी जीने के लिए मजबूर हैं। इन अत्याचारों के खिलाफ मजदूरों को संगठित और एकजुट होकर संघर्ष करना होगा।

--कोमल

अजीब समय है यह

अजीब समय है यह
जो जितना हिंस्र है
वह उतना ही लोकप्रिय है

समाज के बजाये
भीड़ के जत्थे हैं
और उन्हें
हत्या के लिए उकसाते
उनके नायक हैं

नास्तिक को इसलिए मार दो
कि वह सवाल उठाता है
भक्त को इसलिए कि वह
निहत्था मन्दिर जाता है

कमजोर को इसलिए मार दो
कि वह बराबर आना चाहता है
गरीब को इसलिए कि उसकी
कोई सुनवाई नहीं है

हत्याएँ इस तरह होती हैं
कि लोगों को लगे :
हत्या का समाधान है
हत्या

आदमी का खून
जितना बहता है
राजनीति का उतना ही
रंग रहता है
हत्यारा बढ़ता है
सिंहासन की तरफ
भीड़ जय-जयकार करती है

अजीब है यह समय

--पंकज चतुर्वेदी

चे ग्वेरा की बेटी अलेदा ग्वेरा का साक्षात्कार

"बहुत कुछ किया जाना बाकी है"

--रॉन ऑगस्टिन

(अर्नेस्टो चे ग्वेरा और अलेदा मार्च की बेटी अलेदा ग्वेरा मार्च ने हाल ही में यूरोप की यात्रा की, जहाँ उन्होंने देश के प्रस्तावित संवैधानिक सुधारों के लिए क्यूबा में होने वाले लोकप्रिय परामर्शों को समझाते हुए कई विचार-विमर्शों में भाग लिया। उन्होंने अपने देश पर लगे अमरीकी प्रतिबन्धों के खिलाफ भी अभियान चलाया। हवाना में विलियम सोलर चिल्ड्रेन हॉस्पिटल में बाल रोग विशेषज्ञ के रूप में अपने काम पर लौटने से पहले, हमने उनके साथ निम्नलिखित बातें की।)

रॉन ऑगस्टिन : अलेदा, आप स्ट्रैसबर्ग में यूरोपीय संसद के पूरे वाम समूह के साथ बैठक करके आयी हैं। क्या हम इस संसद से उस आर्थिक और वित्तीय नाकाबन्दी के खिलाफ एक प्रस्ताव की उम्मीद कर सकते हैं जिसे संयुक्त राज्य अमरीका ने लगभग 60 वर्षों से क्यूबा के खिलाफ बरकरार रखा है और बढ़ाया है?

अलेदा ग्वेरा : दरअसल, कुछ समय से उन्होंने एक प्रस्ताव पर काम करना शुरू कर दिया है जिसमें कई ठोस उपाय शामिल हैं। संयुक्त राष्ट्र महासभा में यूरोपीय संघ ने पिछले कुछ सालों से हर साल अमरीकी हमले के खिलाफ सर्वसम्मति से मतदान किया है। यह मुख्य रूप से यूरोपीय उद्यमों के दबाव के कारण है, क्योंकि अमरीकी प्रतिबन्ध को उन संस्थानों के साथ होने वाले हर लेन-देन तक बढ़ाया गया है जिनका हमारे देश के साथ न्यूनतम सम्बन्ध भी था और ऐसे उद्यम भी हैं जिनकी पहले से ही क्यूबा की अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण हिस्सेदारी है, जैसे पर्यटन उद्योग में मेलिया।

रॉन ऑगस्टिन : संयुक्त राष्ट्र की क्यूबा पर नवीनतम रिपोर्ट के अनुसार अमरीकी नाकाबन्दी के कारण क्यूबा की अर्थव्यवस्था को अब तक 134 अरब डॉलर की क्षति हो चुकी है, केवल इसी साल चार अरब डॉलर की क्षति हुई है। क्या आप हमें क्यूबा के लोगों को हुए नुकसान के बारे में कुछ बता सकती हैं जिसका लेखा-जोखा नहीं लिया जा सकता है?

अलेदा ग्वेरा : सच है, नाकाबन्दी से हुए सभी मानवीय नुकसान की कीमतों का कोई आँकड़ा दे पाना असम्भव है। ऐसी तकनीकें हैं जिनकी पहुँच हम तक नहीं है, और लोग विकल्प खोजने के लिए काफी समय लगाते और प्रयास करते हैं। नाकाबन्दी के कारण, यूरोप हमें दूध पाउडर बेचने से इनकार कर देता है, जो हमें न्यूजीलैंड से खरीदना पड़ता है। क्यूबा तक की लम्बी यात्रा से इस दूध पाउडर की लागत ही नहीं बढ़ जाती है, बल्कि प्रतिबन्धों से लड़ने की बड़ी कठिनाई के चलते वहाँ पहुँचने में महीनों-महीनों की देर हो जाती है, जहाँ हमें इसकी आवश्यकता होती है। एक डॉक्टर के रूप में मुझे कभी-कभी घटिया उत्पादों या कामचलाऊ (जुगाड़) समाधान के साथ काम करना पड़ता है क्योंकि हमें सही दवा नहीं मिल सकती या हम इसे समय पर प्राप्त नहीं कर पाते हैं। सभी क्यूबावासियों के लिए, यह रोजमर्रा का संघर्ष है।

नाकाबन्दी मौजूद है क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका दूसरे लातिन अमरीकी देशों को बता रहा है कि यदि आप क्यूबा की तरह काम करेंगे तो यही परिणाम होंगे। वास्तव में जितना उन्होंने सोचा था हमने उससे कहीं अधिक विकास कर लिया। यही कारण है कि हम नाकाबन्दी से लड़ना जारी रखते हैं, क्योंकि हम चाहते हैं कि लातिन अमरीका के अन्य लोगों को यह एहसास हो कि हाँ, जीवन का एक और तरीका सम्भव है। लेकिन जीवन के एक और तरीके से जीने के लिए हमें जो भी उत्पादन होता है, उसका स्वामी बनना होगा। यही वह कारण है जिसके लिए अमरीका हमें माफ नहीं करना चाहता और यही कारण है कि नाकाबन्दी बनी रहती है। वे जानते हैं कि एक बार नाकाबन्दी खत्म हुई तो क्यूबा की क्रान्ति बढ़ेगी और बढ़ती ही चली जायेगी।

रॉन ऑगस्टिन : आज करीब एक करोड़ क्यूबावासी नये क्यूबा के संविधान की परियोजना पर चर्चा कर रहे हैं। कुल मिलाकर, राष्ट्रीय असेंबली द्वारा प्रस्तावित 224 धाराओं पर चर्चा के

लिए तीन महीने की अवधि में 1,35,000 सभाओं की योजना बनायी गयी है। यह पहली बार नहीं है कि व्यापक लोकप्रिय परामर्श के बाद संविधान में संशोधन किया जायेगा। इसमें नया क्या है?

अलेदा ग्वेरा : आर्थिक मॉडल और निर्णय लेने वाली संरचनाओं को फिर से गतिशील करने के लिए पिछले दो या तीन दशकों के प्रयासों के बाद, जिसे 'सुधार' और 'यथार्थीकरण' कार्यक्रम के रूप में भी जाना जाता है, संविधान को इन सबके द्वारा तैयार नयी सच्चाइयों को स्वीकार करना भी आवश्यक था। मुझे लगता है कि हमने पिछले साक्षात्कार में इनके बारे में बात की थी। सामान्य परिषद के प्रस्तावों में ऐसे पैराग्राफ होते हैं जिन्हें मार्ती, फिदेल और चे के विचारों में पाया जा सकता है या जैसा कि हम उन्हें कहते हैं, 'आर्टिकोलोस मार्टियानोस, फिडेलिस्टस वाई ग्वेवारिस्टस'। लेकिन जिनकी आज चर्चा है उन संशोधनों में मुख्य रूप से सम्पत्ति के कई रूपों की स्वीकृति शामिल है, जिसमें लोगों की सम्पत्ति, मिश्रित सम्पत्ति और निजी सम्पत्ति शामिल है। निजी पूँजी के संचय को सीमित करने के प्रावधान हैं। बाजार की भूमिका को स्वीकार किया जाता है, लेकिन राज्य ने इस पर नियन्त्रण की ऐसी कार्य प्रणाली अपनायी है जिसमें सार्वजनिक हितों के लिए बाजार का इस्तेमाल हो। विवाह को दो व्यक्तियों के मिलन के रूप में परिभाषित किया जाता है, एक आदमी और एक महिला के बीच के मामले से अधिक नहीं। राज्य की संरचनाओं और इसकी निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में भी बदलाव आयेंगे। मिसाल के तौर पर, समुदायों की जरूरतों के प्रति अधिक कुशलता हासिल करने और नागरिकों की भागीदारी को मजबूत करने के लिए नगरपालिका की स्वायत्तता में सुधार किया जायेगा।

रॉन ऑगस्टिन : सुधार और यथार्थीकरण अभियानों ने राज्य और अर्थव्यवस्था की प्रबंधन संरचनाओं को बदल दिया है। करीब 5 लाख नौकरियों का निजीकरण किया गया है। कृषि क्षेत्र पर क्या प्रभाव पड़ा है?

अलेदा ग्वेरा : मेरी सबसे बड़ी बेटी एक अर्थशास्त्री है और कृषि अनुसंधान में काम करती है, इसलिए मुझे इस विषय पर बहुत अच्छी तरह से जानकारी पाने का मौका मिला है। हम किसी भी माध्यम से जो करने की कोशिश करते हैं, वह उत्पादकता में वृद्धि है। कृषि उत्पादों के लिए बेहतर पारिश्रमिक नीति स्थापित की गयी है। हम न केवल कटाई प्रौद्योगिकियों के विकास में निवेश कर रहे हैं, बल्कि प्रौद्योगिकियों को संशोधित करने में भी निवेश कर रहे हैं। मिसाल के तौर पर, हमारे पास बहुत सारे आम हैं, इसलिए डिब्बाबन्द आमों, आमों की चाशनी आदि के लिए बहुत अधिक गुंजाइश है। हम बुनियादी खाद्य पदार्थों के लिए आत्मनिर्भरता की आकांक्षा रखते हैं, इसलिए हम स्थायी कृषि, जैव प्रौद्योगिकी और शहरी कृषि को प्रोत्साहित कर रहे हैं। भूमि को संरक्षित करने के लिए, हम फसल चक्र का प्रयोग करते हैं और ऐसी फसलों का उपयोग करते हैं जो खाद या कीटनाशकों के इस्तेमाल के बिना अन्य फसलों की रक्षा में मदद करती हैं। उदाहरण के लिए, चावल के रोपण के लिए हम एक छोटी मछली का उपयोग कर रहे हैं जो उन बैक्टीरिया और परजीवी पर जिन्दा रहती है जो चावल की फसलों को प्रभावित कर सकते हैं। कुल मिलाकर, हम उत्पादों के जैविक घटकों का लक्ष्य साधते हैं जो स्वास्थ्य के लिए यथासम्भव लाभदायक है।

रॉन ऑगस्टिन : आपके पिता की बौद्धिक विरासत की देखभाल आपकी माँ द्वारा निर्देशित संस्था सेंट्रो डी एस्टूडियो चे ग्वेरा करती है। पिछले बीस वर्षों से, यह केन्द्र चे के लेखन और उन संघर्षों के इतिहास से सम्बन्धित ग्रंथों के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है जिसमें उन्होंने भाग लिया था। क्या आप केन्द्र की वर्तमान स्थिति के बारे में कुछ कह सकती हैं?

अलेदा ग्वेरा : सेंट्रो का प्रबन्धन अभी भी मेरी माँ द्वारा किया जा रहा है, हालाँकि वह मुझे इसकी जिम्मेदारी देना चाहती हैं। मेरे भाई और मैं उनकी मदद कर रहे हैं, लेकिन मैं अब उस जिम्मेदारी को नहीं लेना चाहती क्योंकि मुझे बाल रोग विशेषज्ञ के रूप में बहुत कुछ करना है। लगभग हर मामले में मेरी माँ अभी भी बहुत सक्रिय हैं, वह एक अद्भुत तेज इनसान हैं, इस उम्र में भी उनकी आय बताने की मुझे अनुमति नहीं है (हँसी), वह आश्चर्यजनक रूप से मजबूत और तेज हैं। 2014 के बाद से, केन्द्र के अभिलेखागार को विश्व रजिस्टर के यूनेस्को के समृति खण्ड में शामिल किया गया है। ओशन सुर एंड ओशन प्रेस जैसे प्रकाशकों के साथ हमने 20 किताबें प्रकाशित की हैं, और इससे अधिक किताबें तैयारी में हैं। भविष्य में, हम विभिन्न क्षेत्रों में चे के विचारों के प्रभाव पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करेंगे। इस साल जून में चे की 90 वीं वर्षगाँठ पर हमने चे के विचारों की वर्तमान प्रासंगिकता पर चर्चा करने के लिए सान्ता क्लारा विश्वविद्यालय के छात्रों के साथ एक सम्मेलन आयोजित किया। इस विषय पर पहले से ही अध्ययन की तैयारी हो रही है जिसके लिए सम्मेलन के निष्कर्ष एक तरह से भूमिका का काम कर सकते हैं।

रॉन ऑगस्टिन : आप पूँजीवादी देशों में काफी यात्रा कर रही हैं। जब आप यूरोप में होती है, तब उदाहरण के लिए, आपको सबसे ज्यादा किस चीज से झटका लगता है?

अलेदा ग्वेरा : ओह! इसकी एक पूरी सूची है। उन चीजों में से एक जो मुझ पर सबसे ज्यादा चोट करती है, यह देखना है कि कैसे 'पुराना यूरोप' ध्वस्त हो रहा है-- एक-एक करके, व्यावहारिक रूप

से सदियों के संघर्षों के दौरान हासिल की गयी सभी उपलब्धियाँ। काम के दौरान सुरक्षा की भारी कमी, शिक्षा और स्वास्थ्य क्षेत्रों का निजीकरण, भत्ते और पेंशन में कमी और लोग शायद ही कभी प्रतिक्रिया करते हैं! उन सभी चीजों पर जिनका सरोकार समाज के भविष्य से है। लोगों की स्वतंत्रता के लिए, उन्हें संस्कृति, शिक्षा की आवश्यकता होती है, ताकि उनके अलावा कोई भी उनकी सोच को तोड़-मरोड़ न सके और उसका उपयोग न कर सके। समाज को स्वस्थ पुरुषों और महिलाओं की जरूरत होती है, इसलिए स्वास्थ्य एक ऐसा मानवाधिकार है जिस पर कोई समझौता नहीं हो सकता। ये बातें मायने रखती हैं जो मेरे लिए बहुत चौंकाने वाली हैं, क्योंकि अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लोग मुझे तत्पर दिखायी नहीं देते हैं। यह समझ में नहीं आता है क्योंकि यूरोप के लोगों में पुस्तैनी संस्कृति, संघर्ष की संस्कृति और एक प्रतिरोध की संस्कृति रही है, जो इस महाद्वीप में मानवता के विकास का सबसे सुन्दर अनुभव है। और इनमें से क्या बचा हुआ है?

दो चीजें हैं जो भयावह हैं जिन्हें मैं कभी स्वीकार नहीं करूँगी-- उपनिवेशवाद और नस्लवाद। ज्यादातर लोगों को यह एहसास नहीं है कि यूरोप की सम्पत्ति पाँच शताब्दियों के दौरान तीसरी दुनिया के लोगों के शोषण से तैयार हुई है और क्षतिपूर्ति के ऐतिहासिक दायित्व की तरह कुछ है, जैसे-- कम से कम उनके साथ एकजुटता। सभी लोग कभी न कभी प्रवासी रहे हैं। यदि कोई यूरोप की ओर वर्तमान विस्थापन को कम करना चाहता है, तो उसे प्रवासी क्षेत्रों के भीतर नौकरियाँ पैदा करनी होंगी आतंकवादियों के समर्थन पर रोक लगानी होगी, सीरिया में युद्ध को रोकना होगा। लेकिन अधिकांश लोग ऐसा कर नहीं पाते हैं या करना नहीं चाहते हैं।

ऐसी चीजें हैं जो मुझे आश्चर्यचकित करती हैं। अन्तरराष्ट्रीय प्रेस, टेलीविजन इसी तरह का एक जहर है। जब मैं यूरोप आती हूँ, तो मुझे मुस्कुराना पड़ता है, जब वे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सामान्य रूप से स्वतंत्रता के बारे में मुझसे बात करते हैं। जैसे ही मैं टेलीविजन की तरफ मुखातिब होती हूँ, तो मैं खुद से 'स्वतंत्रता क्या है' पूछती हूँ, मुझे बताया जा रहा है कि कौन से कपड़े खरीदने हैं, कौन सी कार चुननी है, भोजन में क्या खाना है, उपभोग करने के लिए क्या है, आदि बकवास। लोगों को बूचड़खाने के जानवरों की तरह समझा जाता है, जो झूठे प्रचार द्वारा स्थायी रूप से मूर्ख बना दिये गये हैं। इस प्रकार, लोग अब उनके आसपास क्या हो रहा है, इसके बारे में और ज्यादा लापरवाह हो गये हैं। उपभोग करने और थोड़ा बेहतर जीने के अलावा किसी भी चीज के बारे में वे शायद ही चिन्तित होते हैं, बिना यह देखे कि उनकी विलासिता, लाखों मनुष्यों के शोषण पर निर्भर है। तो जब मैं यहाँ आती हूँ और वे आजादी और लोकतंत्र के बारे में बात करना शुरू करते हैं, तो मुझे मुस्कुराना पड़ता है। पहले, यह मुझे परेशान किया करता था। अब, मैं हँस सकती हूँ, लेकिन अक्सर मैं खुद से पूछती हूँ, लोगों को यह कब समझ में आयेगा कि स्वतंत्र होने का अर्थ है शिक्षा के इस्तेमाल की स्वतंत्रता और प्रतिक्रिया देने की अनुमति होना। तो, बहुत कुछ किया जाना बाकी है। मुझे लगता है कि फिर भी, लोगों के साथ भलाई, संवेदनशीलता का एक हिस्सा होता है, और यह कि इस संवेदनशीलता को सीखना और स्पर्श करना हमारे ऊपर है।

जब मैं बच्ची थी, मैंने कुछ बुनियादी अवधारणाएँ सीखी थीं। मैं क्रान्ति के बिना नहीं रह सकती। उदाहरण के लिए, मुझे क्यूबा के बाहर एक बाल रोग विशेषज्ञ के रूप में नौकरी का प्रस्ताव मिला, लेकिन मैंने कहा कि यह उपयोगी नहीं होगा, क्योंकि काम करने के मेरे तरीके का उद्देश्य यह है कि रोगियों को हर समय मेरे पास दुबारा आने की जरूरत नहीं पड़े। काम करने का मेरा तरीका उन्हें स्थायित्व देना है। मुझे सिखाया गया है कि इलाज कोई व्यापार नहीं हो सकता, यह मानव अधिकार होना चाहिए। मुझे यह सिखाया गया है कि मैं बोलूँ जो मैं सोचती हूँ और अपने सिद्धान्तों की रक्षा करूँ, जहाँ भी मैं हूँ, जहाँ भी हो सकता हो। मैं किसी और तरीके से नहीं जी सकती। एक दिन किसी ने मुझसे पूछा-- 'डॉक्टर, अगर आपको चीजों को सन्तुलन में रखना पड़ा तो आप पहले क्या करेंगी, क्रान्ति या आपकी बेटियाँ?' और मैंने जवाब दिया - क्रान्ति, क्योंकि मैं चाहती हूँ कि मेरी बेटियाँ भी उसी गरिमा के साथ बड़ी हों जिसके साथ मैं बड़ी हुई हूँ। सभी को हमेशा विचारधारा पर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि हम ऐसी दुनिया में रहते हैं जो बहुत सी गन्दी बातें हमारे ऊपर बरसाती रहती है। और मैं हमेशा कहती हूँ, मैं एक कम्युनिस्ट हूँ, मैं कोई छल नहीं करती, आप समझ रहे हैं न? अगर मैं कम्युनिस्ट हूँ, तो मैं बेवकूफ नहीं हूँ। मैं भी खुशी चाहती हूँ, अच्छी चीजें चाहती हूँ, लेकिन सभी के लिए। मैं किसी ऐसी चीज से लाभ नहीं उठा सकती अगर मुझे पता है कि इससे मेरे सहयोगियों को बिल्कुल लाभ नहीं हो रहा है, ऐसा मैं नहीं कर सकती। हमें चीजों को साझा करना होगा और हमें निश्चित रूप से आगे बढ़ना होगा, लेकिन उन आदर्शों को खोये बिना जिनके साथ हम बड़े हुए हैं।

अनुवाद : ईशान

(मंथली रिव्यू *mronline.org* से साभार)

ब्राजील की लोकतान्त्रिक व्यवस्था पर धुर दक्षिणपंथी ताकतों का कब्जा

--सुनील कुमार

28 अक्टूबर को ब्राजील में अन्तिम दौर का चुनाव परिणाम आया। इसमें विवादास्पद धुर दक्षिणपंथी नेता जेर बोल्सोनारो की जीत हुई। वामपंथी झुकाव रखने वाली वर्कर्स पार्टी के नेता फर्नाडो हदाद को कुल मतों का 44 प्रतिशत प्राप्त हुआ वहीं बोल्सोनारो को 56 फीसदी मत मिले। 7 अक्टूबर को हुए पहले दौर के चुनाव में भी बोल्सोनारो ने विभिन्न पार्टियों के 13 उम्मीदवारों में 46 प्रतिशत मत पाकर बढ़त बना ली थी जबकि हदाद को 29 फीसदी मत ही मिले थे। नये राष्ट्रपति कंजर्वेटिव सोशल लिबरल पार्टी से ताल्लुक रखते हैं। उनकी पार्टी के नाम में "लिबरल" शब्द भले ही दिखायी देता हो लेकिन चुनाव प्रचार के दौरान विभिन्न मुद्दों पर उनकी राय से यही झलकता है कि आम जनता के लिए उनके दिल में कोई जगह नहीं है। उनका आक्रामक रवैया अमरीका में हुए पिछले चुनावों में ट्रम्प द्वारा अपनाये गये रवैये से भी ज्यादा घृणित और उग्र था।

ब्राजील में चुनाव ऐसे समय में हुआ जब देश भयानक आर्थिक मन्दी के दौर से गुजर रहा है। बड़ी संख्या में लोग बेरोजगार हैं। लाखों लोगों की नौकरियाँ छूट गयी हैं। जिनके पास नौकरी है उनकी तनख्वाह कम हो गयी है। महँगाई आसमान छू रही है। देश में विदेशी निवेश भी नहीं है। इस चुनाव में अर्थव्यवस्था का मुद्दा सबसे अहम रहा क्योंकि लाखों-करोड़ों लोग इससे प्रभावित हुए हैं। दिल्ली की जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सेंटर फॉर कनैडियन, यूएस एण्ड लातिन अमरीकन स्टडीज के प्रोफेसर डॉ अब्दुल नफे का मानना है कि खराब अर्थव्यवस्था के अलावा ब्राजील में और भी मुद्दे हैं जो बेहद गम्भीर हैं। उनका कहना है, "ब्राजील में भ्रष्टाचार आसमान छू चुका है। संस्थागत तरीके से कई अरब डॉलर इधर-उधर हुए हैं। एक और बड़ा मुद्दा है-- हिंसा। ब्राजील में इतनी हिंसा है कि 64 हजार लोग मारे जा चुके हैं। इतनी हिंसा तो उन देशों में होती है जहाँ युद्ध चल रहा है।" वह आगे बताते हैं, "ऐसा लग रहा है कि ब्राजील में असहिष्णुता और नफरत का रेला सा आया है। अश्वेत और महिलाएँ निशाने पर हैं। इसके अलावा वामपंथी कहना यहाँ आज के समय में सबसे बड़ी गाली बन गयी है।"

इस सदी के आरम्भ में लूला दा सिल्वा 2003 से 2011 तक ब्राजील के राष्ट्रपति रहे थे। वे वर्कर्स पार्टी से थे। उन्होंने देश में आर्थिक असमानता को कम करने की भरसक कोशिश की। ब्राजील को अन्तरराष्ट्रीय पटल पर एक नयी पहचान भी दिलायी। समाज के निचले तबके तक विकास का लाभ पहुँचाने और उन्हें मुख्यधारा से जोड़ने का काम किया। लेकिन उनकी सरकार कई मामलों में नवउदारवादी नीतियों के दबाव में झुकती चली गयी। अमरीका के दबाव के चलते उन्हें ऐसी नीतियाँ भी लागू करनी पड़ीं जो जनविरोधी थीं और आर्थिक संकट को जन्म देने वाली थीं। इस दौरान कब उनकी पार्टी भ्रष्टाचार के आरोपों में घिर गयी, इसका उन्हें भी पता नहीं चला। खुद लूला दा सिल्वा पर भी भ्रष्टाचार के आरोप लगे। उन्हें पद छोड़ना पड़ा और वह फिलहाल जेल में हैं। इसके बाद वर्कर्स पार्टी की ही डील्मा रुसेफ राष्ट्रपति बनी। डील्मा रुसेफ को 2016 में महाभियोग के कारण हटा दिया गया था और उसके बाद उपराष्ट्रपति माइकल टेमर राष्ट्रपति बने। वह सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी से थे जो एक मध्यमार्गी दक्षिणपंथी पार्टी है। डील्मा रुसेफ के ऊपर महाभियोग में इस पार्टी की मुख्य भूमिका थी। इस घटनाक्रम के बाद ब्राजील में राजनीतिक और आर्थिक संकट खड़ा हो गया था।

अगर ब्राजील के इतिहास पर एक नजर डालें तो हम देखते हैं कि यहाँ अफ्रीका से बड़ी तादाद में लाये गये काले लोगों को गुलाम बनाया गया था। ब्राजील दुनिया का आखिरी देश था जहाँ गुलामी 1988 में खत्म हुई। ब्राजील में 54-60 फीसदी लोग या तो अफ्रीकी मूल के हैं या फिर मिश्रित नस्ल के हैं। ब्राजील के सत्ताधारी वर्ग में ज्यदातर गोरे लोग हैं। यहाँ का समाज काले और गोरे में बँटा हुआ है। काले लोगों की तादाद ज्यादा होने के बावजूद यहाँ पर गोरे लोगों का हर क्षेत्र में दबदबा बना हुआ था। वर्कर्स पार्टी पिछले 16 में से 14 साल तक सत्ता में बनी रही। इस दौरान बहुत से सुधारवादी कदम उठाये गये। उन्होंने समाज के निचले तबके लिए आरक्षण का प्रावधान किया। गरीबों का भत्ता बढ़ाया। ऐसे तमाम सुधारों की वजह से ज्यादातर लोग गरीबी रेखा से ऊपर आये। इसे देखते हुए उच्च वर्ग में नाराजगी और असन्तोष की

प्रतिक्रिया आयी। आज जो ब्राजील के हालात हैं वे इन्ही सुधारों का नतीजा हैं। इसी वजह से संयुक्त राष्ट्र और अन्तरराष्ट्रीय समुदाय भी मानता है कि लूला दा सिल्वा अपराधी नहीं, बल्कि राजनीतिक कैदी हैं। उन्हें उनके सुधारवादी कदमों से नाराज हुए कुलीन वर्ग की नाराजगी की वजह से सजा काटनी पड़ रही है।

धुर दक्षिणपंथी उम्मीदवार जेर बोल्सोनारो ने उच्च वर्ग के बीच पनपे इस असन्तोष का भरपूर फायदा उठाया। बोल्सोनारो थल सेना अध्यक्ष थे। उनका राजनीतिक जीवन एक सैन्य नेता के तौर पर रहा है। उनका पूरा राजनीतिक करियर सेना की तानाशाही को महान बनाने से शुरू हुआ और अब तक आधार वही चल रहा है। धीरे-धीरे वे मुख्यधारा की राजनीति में आये और रियो द जेनेरियो से कांग्रेस सदस्य बन कर संसद गये। वे ब्राजील में सेना के शासन को सही ठहराते हैं। उनका मानना है कि देश की मजबूती के लिए ब्राजील को 1964-85 वाली सैन्य तानाशाही के दौर में दोबारा जाना चाहिए। साल 2016 में जब तत्कालीन राष्ट्रपति डील्मा रुसेफ पर चल रहे महाभियोग के दौरान कांग्रेस सदस्यों द्वारा मतदान किया जा रहा था उस वक्त बोल्सोनारो ने दिवंगत नेता कर्नल एल्बर्टो उस्तरा को अपना मत दिया था। एल्बर्टो ब्राजील के बेहद विवादित नेता थे। उन पर देश में सेना की तानाशाही के दौरान कैदियों को प्रताड़ित करने के आरोप लग चुके हैं।

बोल्सोनारो ने भ्रष्टाचार के खिलाफ पहले से ही चल रही मुहिम को तेज करने के साथ ही सरकारी कम्पनियों को बेचकर अर्थव्यवस्था को सुधारने का दावा किया है। पेरिस जलवायु समझौते से बाहर आने का ऐलान भी वह पहले ही कर चुके हैं। पर्यावरण समझौतों से बाहर जाने का फैसला करके उन्होंने इनसानियत विरोधी कदम उठा दिया है। उन्होंने अपनी छवि ब्राजील के हितों के रक्षक के तौर पर पेश की है। जब वे ऐसा कहते हैं तो कुलीन वर्ग के हितों की रक्षा की बात करते हैं। सेना उनके पक्ष में खुलकर आ गयी है और उन्हें धार्मिक कुलीनों का भी समर्थन मिल गया है। ब्राजील में एवेंजेलिकल चर्चों के संगठन ने बोल्सोनारो के समर्थन में खुलकर प्रचार किया। अपने चुनाव अभियान के दौरान बोल्सोनारो ने नये मतदाताओं का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए सारे तीन-तिकड़म आजमाये। मुक्त बाजार की आर्थिक नीतियों का समर्थन करने के कारण उन्हें पूँजीपति वर्ग का भी अच्छा-खासा समर्थन मिला।

नारीवादी और समलैंगिक आन्दोलनों के प्रति गुस्सा और भ्रुण हत्या की मुखालफत, ये सब उनकी नीतियों में शामिल है। इसी साल बलात्कार का आरोप लगने पर बोल्सोनारो ने अपनी सहयोगी पर बेहद विवादित और अपमानजनक बयान दिया था। उसने कहा, "वह महिला इस लायक नहीं है कि उसका बलात्कार किया जाये, वह बेहद बदसूरत है और मेरे 'टाइप' की नहीं है।" इस बयान के बाद ब्राजील की महिलाओं ने फेसबुक पर बोल्सोनारो के खिलाफ एक फेसबुक ग्रुप बनाकर विरोध अभियान चलाया। वे समलैंगिकता के भी विरोधी हैं। साल 2011 में एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंने कहा था, "मैं अपने बेटे को एक समलैंगिक होने से बेहतर एक सड़क हादसे में मरते देखना चाहूँगा।"

वर्कर्स पार्टी पर बोल्सोनारो की जीत से खुश द कनेडियन ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशन का कहना है कि एक बार फिर कनाडा की कम्पनियों को नये सिरे से इस संसाधन सम्पन्न देश में निवेश करने का अवसर मिल सकेगा। कॉर्पोरेशन की तरफ से "मुक्त व्यापार" के प्रति उनकी मजबूत प्रतिबद्धता के लिए शुक्रिया भी अदा किया गया है। अमरीकी राज्य की एक पूर्व अधिकारी अन्ना पूसा का कहना है कि ब्राजील में खनन निवेशकों के लिए आने वाला समय अच्छा रहेगा।

इस तरह ब्राजील में फिर एक बार उन ताकतों को जीत हासिल हुई है जो ब्राजील ही नहीं पूरी दुनिया को बर्बादी के कगार पर ले जाना चाहती हैं। दुनियाभर में मन्दी का दौर 2008 से अब तक जारी है जो लगातार गहराता जा रहा है। 1930 की मन्दी ने हिटलर जैसा शैतान पैदा किया था जो मानवता के इतिहास पर काला धब्बा है। हाल के वर्षों में दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में ऐसी ताकतें सर उठाती जा रही हैं जो दुनिया भर के प्रगतिशील लोगों के लिए चिन्ता का विषय है। 1990 में अमरीका के नेतृत्व में दुनिया भर में थोपी गयी नवउदारवादी की नीतियों को जब तक पूरी तरह से दफना नहीं दिया जायेगा तब तक ऐसी घोर प्रतिक्रियावादी ताकतें सर उठाती रहेंगी।

विद्यार्थी

दिन-प्रतिदिन बच्चों को बचपन के अधिकार से दूर किया जा रहा है। इस अधिकार की हँसी उड़ाते सच अपनी सीखें हम तक रोजाना पहुँचाते हैं। हमारी दुनिया धनी बच्चों को यूँ देखती है मानो वे कोई चलती-फिरती तिजोरी हों! और फिर होता यह है कि ये बच्चे असल जिन्दगी में भी खुद को रुपया-पैसा ही समझने लग जाते हैं। दूसरी ओर, यही दुनिया गरीब बच्चों को कूड़ा-कचरा समझते हुए उन्हें घूरे की चीज बना डालती है और मध्यवर्ग के बच्चे, जो न तो अमीर हैं न गरीब, यहाँ टीवी से यूँ बाँध दिये गये हैं कि बड़ी छोटी उमर से ही वो इस कैदी जीवन के गुलाम हो जाते हैं। वे बच्चे जो बच्चे रह पाते हैं, फिर किस्मत के धनी और एक अजूबा ही माने जायेंगे।

--एदुआर्दो गालेआनो

फेक न्यूज के शिकंजे में भारत

--अजहर

झूठी खबर फैलाने की शुरूआत भले ही भाजपा आइटी सेल ने की हो लेकिन अब इस मामले में कोई पार्टी किसी से पीछे नहीं है। कुछ घटनाएँ देखिए। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की शिक्षा को लेकर कांग्रेस और आम आदमी पार्टी ने कई बार सवाल उठाया है। इसी से जुड़ी खबर को कांग्रेस ने विकृत किया-- यह काम कांग्रेस के आईटी सेल ने प्रधानमंत्री के दो दशक पुराने साक्षात्कार के वीडियो को तोड़-मरोड़ कर किया। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी द्वारा एक छोटी लड़की से राहुल गाँधी को पप्पू कहलवाया गया, कर्नाटक में मस्जिद तोड़ने पर मन्दिर निकाला गया। आम आदमी पार्टी द्वारा नीदरलैंड के ब्रिज को दिल्ली का सिग्नेचर ब्रिज बता कर शेयर किया गया, भाजपा सरकार द्वारा वर्ष 2015 से 2017 के बीच विश्व बैंक से एक रुपये भी कर्ज न लेने की खबर फैलायी गयी, भोजपुरी फिल्म के दृश्य को बीएसपी नेता द्वारा दलित महिला के साथ बदसुलूकी बता कर फैलाया गया। ऐसी ही सैकड़ों झूठी खबरें रोज हमें इन्टरनेट और सोशल मीडिया के माध्यम से देखने-सुनने को मिल जाती हैं। बच्चा चोरी और गौ-तस्करी जैसी अफवाहों के चलते कई जानलेवा घटनाएँ भी हुई हैं।

आज हमारे पास इन्टरनेट जैसे शक्तिशाली साधन हैं। शिक्षण-प्रशिक्षण, खरीद-फरोख्त और बैंकिंग जैसे तमाम महत्त्वपूर्ण काम इन्टरनेट के माध्यम से किये जा रहे हैं, वहीं आम आदमी तक खबरें पहुँचाने का काम भी इन्टरनेट के जिम्मे आ गया है। इन्टरनेट के प्रचलन से हजारों न्यूज वेबसाइट कुकुरमुत्ते की तरह उग आयीं हैं और हमारे सामने सही-गलत खबरों का अम्बार लगा दे रही हैं। एक सामान्य पढ़े-लिखे व्यक्ति के लिए यह पता लगा पाना कठिन हो गया है कि कौन सी खबर सही है और कौन सी गलत। पहले जो खबरें समाचार पत्रों के माध्यम से लोगों तक पहुँचती थीं वे कई माध्यमों से छन कर आयी होती थीं और उसकी जबावदेही उस अखबार या पत्रिका की होती थी। लेकिन आज जब खबरें इन्टरनेट के माध्यम से लोगों तक पहुँचती हैं तो उनकी सत्यता का कोई प्रमाण नहीं होता। इन्टरनेट पर रोज लाखों लोगों द्वारा झूठी खबरें साझा की जाती हैं, शेयर, ट्विट और रि-ट्विट की जाती हैं, जिन्हें अन्ततः इन्टरनेट इस्तेमाल करने वाले लोगों के बहुत बड़े वर्ग द्वारा सही मान लिया जाता है और वह बहस का मुद्दा बन जाती हैं। सवाल यह है कि जब हम तक बड़ी संख्या में झूठी खबरें ही पहुँचती हैं तो हम जिस समाज, देश और दुनिया के बारे में जानते-समझते हैं, वह जानकारी झूठ पर टिकी होती है। हम चाहे-अनचाहे इस झूठ के खेल में शामिल हो जाते हैं।

जातिवाद और साम्प्रदायिकता फैलाने वाले गिरोहों द्वारा अपनी वेबसाइटों पर झूठी खबरें जारी करना और उसका सोशल मीडिया के माध्यम से प्रचार-प्रसार पूरे देश के लिए खतरा बन गया है। आज देश की मुख्य धारा का मीडिया भी फेक न्यूज की गिरफ्त में है। पूरी दुनिया के साथ-साथ भारत में भी फेक न्यूज का मकड़जाल फैला हुआ है। इससे पहले कि लोग अपनी मूलभूत आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा और मकान) और उससे जुड़ी समस्याओं (शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सुरक्षा) के बारे में सोचें, फेक न्यूज साइटों और सोशल मीडिया के द्वारा झूठी खबरें फैलाकर उन्हें गुमराह करने की भरपूर कोशिश की जा रही हैं। आज सत्ताधारी वर्ग इन झूठी खबरों के माध्यम से राष्ट्रवाद, धर्म और गौरक्षा जैसे तमाम मुद्दे उछालकर, इतिहास की गलत तस्वीर पेशकर के और देश में विकास के झूठे आँकड़े परोसकर नौजवानों को भटकाने का काम कर रहा है। राजनीतिक दल एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप का खेल खेल रहे हैं और अपने आप को देश और समाज की जिम्मेदारियों से दूर रखे हुए हैं।

बीबीसी न्यूज के अनुसार एक स्वतंत्र अध्ययन में पाया गया कि 60 फीसदी से अधिक पत्रकार सोशल मीडिया प्लेटफार्म का इस्तेमाल खबरों के स्रोत के तौर पर करते हैं। फेक न्यूज के प्रचार-प्रसार के लिए सरकार और उसके नुमाइन्दे सोशल मीडिया साइटों को जिम्मेदार ठहरा रहे हैं जबकि सच्चाई यह है कि इन झूठी खबरों और अफवाहों का स्रोत कहीं और है। दरअसल इसके पीछे राजनितिक पार्टियों और पूँजीपतियों के कारिन्दे हैं। उनका एक बड़ा गिरोह है जिनका काम झूठी खबरों और अफवाहों को जन्म देना और फैलाना है। बेरोजगारी और महँगाई की मार झेल रहे नौजवान आसानी से उनके हत्थे चढ़ जाते हैं और अपने जैसे दूसरे नौजवानों तक झूठी खबर फैलाने का प्लेटफार्म बन जाते हैं।

फेक न्यूज का पर्दाफाश करने वाली वेबसाइट ऑल्ट-न्यूज के संस्थापक प्रतीक सिन्हा के अनुसार फेक न्यूज एक प्रकार का कारोबार, राजनीतिक प्रोपगैंडा फैलाने का माध्यम और लोकतंत्र के

लिए खतरा बन गयी है। फेक न्यूज लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को प्रभावित करने लगी है। आज सच्ची खबरें झूठी खबरों के बीच दबायी जा रही हैं। भारत में फेक न्यूज जंगल की आग की तरह फैल जाती हैं जिससे विभिन्न समुदायों, जातियों और धर्मों के बीच कलह पैदा हो रही है। एक धर्म के लोगों के मन में दूसरे धर्म के प्रति डर और नफरत पैदा की जा रही है।

देश में सभी राजनितिक दलों के अपने आईटी सेल हैं जो झूठी खबरों को गढ़ने और फैलाने का काम कर रहे हैं। मौजूदा भाजपा सरकार इस काम को बहुत बड़े पैमाने पर कर रही है और हिन्दुत्व तथा झूठे राष्ट्रवाद के नाम पर जनता के बहुत बड़े हिस्से का ध्रुवीकरण करने में लगी है ताकि आने वाले चुनाव में उसका वर्चस्व कायम रहे और वह सत्तासीन बनी रहे। ये पुराने वीडियो को तोड़-मरोड़कर तात्कालिक घटनाओं के तौर पर पेश करते हैं और दंगा भड़काने का काम करते हैं। फेसबुक, व्हाट्सअप और ट्विटर के जरिये यह काम धड़ल्ले से चल रहा है। फेसबुक और ट्विटर पर लाखों फेक अकाउंट बने हुए हैं जिन्हें संचालित करने के लिए भाड़े के टट्टू रखे जाते हैं। ट्विटर पर एक फेक न्यूज को ट्विट करने के लिए 50 से 70 रुपये दिये जाते हैं।

भाजपा आईटी सेल में 2012 से 2015 तक काम कर चुके महावीर ने एक इंटरव्यू में बताया कि वे कैसे झूठी खबरों को फैलाते थे और भाजपा के खिलाफ बोलने वाले लोगों को कैसे ट्रोल करके (डराकर) परेशान करते थे। वह किसी भी खबर को किसी जाति या धर्म से जोड़कर फेसबुक पर पोस्ट करते थे। महावीर ने बताया कि ऐसी सैकड़ों फर्जी न्यूज वेबसाइट हैं जो फेक न्यूज को फैलाती हैं और इन वेबसाइटों पर अन्य विश्वसनीय न्यूज वेबसाइटों की अपेक्षा अधिक लोग पहुँचाते हैं। इन फर्जी न्यूज वेबसाइटों में "न्यूजट्रेन्डडॉटन्यूज", "इन्सिस्टपोस्टडॉटकॉम"और "वायरल इन इंडियाडॉटइन" आदि प्रमुख हैं। फेक न्यूज गढ़ने और फैलाने के मामले में भाजपा के साथ-साथ कांग्रेस, आप और अन्य राजनितिक पार्टियाँ भी पीछे नहीं हैं।

झूठी खबरों और अफवाहों से भीड़ की हिंसा जैसी गम्भीर समस्याएँ उभर कर सामने आयीं हैं जिसमें गौ-तस्करी और बच्चा चोरी जैसी अफवाहों का सहारा लेकर दलित और मुस्लिम समुदाय के लोगों को निशाना बनाया जा रहा है और उनकी हत्या कर दी जा रही है। इण्डिया स्पेंड की एक रिपोर्ट के अनुसार 2010 से अब तक गौ-तस्करी के नाम पर भीड़ द्वारा 86 हमले किये गये जिसमें 98 फीसदी घटनाएँ 2014 के बाद भाजपा सरकार में हुई हैं। केवल 2017-18 में बच्चा चोरी और गौ-तस्करी की अफवाहों को लेकर भीड़ द्वारा हिंसा के 69 मामले देखे गये जिसमें 33 बेगुनाह लोगों की हत्या कर दी गयी।

दिन-प्रतिदिन इन घटनाओं की संख्या बढ़ती जा रही है और सैकड़ों बेगुनाह लोगों की हत्या कर दी जा रही है। जिस तरह सत्ताधारी पार्टी द्वारा झूठी खबरें फैलायी जा रही हैं और सत्ताधारी पार्टी के मन्त्री और नेता इन घटनाओं के आरोपियों के समर्थन में खड़े होते हैं, इससे तो यही पता चलता है कि यह उनकी सोची-समझी चाल है। इन सभी अफवाहों और घटनाओं के आगे देश की कानून व्यवस्था बेबस नजर आ रही है और पूरी दुनिया भारत की तरफ देख रही है कि आखिर भारत में चल क्या रहा है।

आज जब शिक्षा व्यवस्था भ्रष्ट होती जा रही है, स्वास्थ्य सेवाएँ जर्जर होती जा रही हैं, जनता महँगाई के बोझ से कराह रही है, नौजवान नौकरी के लिए भटक रहे हैं, किसान आत्महत्या कर रहे हैं, देश की अर्थव्यवस्था ढहती जा रही है और पूरा देश वित्तीय पूँजी की गिरफ्त में है तब ऐसे दौर में कोई सत्ता के खिलाफ आवाज न उठाये, इसलिए सत्ताधारी वर्ग झूठी खबरों और अफवाहों का जाल बिछाकर लोगों को उलझाने का काम कर रहा है।

भारत जैसे देश में शिक्षा और जागरूकता की बेहद कमी है, लोग अपने विवेक का इस्तेमाल नहीं कर पाते और सच को झूठ और झूठ को सच मान लेते हैं। वे न कुछ सोचते हैं और न ही सवाल करते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर ने कहा था कि वह सरकार कितनी खुशनसीब होगी जिसकी जनता सोचना बन्द कर दे। कुछ ऐसी ही हालत आज भारत की है।

आज भारत में राजनीतिक पार्टियों के बीच गलाकाट होड़ चल रही है, पक्ष और विपक्ष के मंत्री और नेता ऐसी बयानबाजी में लगे हुए हैं जिसका कोई सिर-पैर नहीं होता। इनके द्वारा फैलाया गया यह भ्रमजाल भले ही आज उनके लिए फायदे का सौदा हो लेकिन आने वाले दिनों में जब जनता जागेगी तब इनसे पाई-पाई का हिसाब लेगी।

देखने-देखने की बात है

अगर एक इनसान हजार डॉलर (लगभग 64 हजार रुपये) और दूसरा कुछ भी नहीं कमाता है, तब भी प्रति व्यक्ति आमदनी के आँकड़ें इन दोनों को पाँच-पाँच सौ डॉलर का मालिक बतायेंगे।

मुद्रास्फीति रोकने के नजरिये से ढाँचागत बदलाव या 'सुधार' अच्छे और इन्हें भुगतने वालों के लिए हैजा, चेचक, टीवी और बाकी मुसीबतें कई गुना बढ़ानेवाले उपाय हैं।

-एदुआर्दो गालेआनो

सबरीमाला मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश पर राजनीति

--दीप्ति

इंडियन यंग लॉयर्स एसोसिएशन और हैप्पी टू ब्लीड जैसी संस्थाओं ने मिलकर केरल उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये उस आदेश के खिलाफ सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर की थी, जिसके अनुसार 10 से 50 वर्ष की महिलाओं का सबरीमाला मन्दिर में प्रवेश प्रतिबन्धित कर दिया गया था। 28 सितम्बर 2018 को सर्वोच्च न्यायालय ने 5 सदस्यीय कमिटी में 4 सदस्यों के बहुमत से केरल उच्च न्यायालय के फैसले को पलट दिया। और सबरीमाला मन्दिर में 10 से 50 वर्ष की महिलाओं के मन्दिर जाने पर लगी रोक को समाप्त कर दिया। फैसला देते वक्त मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा ने कहा, "धर्म के नाम पर पुरुषवादी सोच ठीक नहीं है और उम्र के आधार पर महिलाओं के मन्दिर प्रवेश पर रोक लगाना धर्म का हिस्सा नहीं है।"

सबरीमाला मन्दिर केरल का एक प्रमुख तीर्थ है। इसका निर्माण 1200 ई. के लगभग हुआ था। प्रत्येक मलयाली महीने के शुरू के पाँच दिन मन्दिर खुलता है। इससे अलग मकर सक्रान्ति, बैसाखी और 15 नवम्बर से 26 दिसम्बर तक चलने वाली लम्बी यात्रा में मन्दिर खुलता है। बाकी समय यह मन्दिर बन्द रहता है। इसके प्रमुख तंत्री का मानना है कि परम्परा के अनुसार 1500 वर्षों से मन्दिर में महिलाओं का परवेश वर्जित है, जबकि 20 साल पहले तक, विशेष तीन पूजाओं को छोड़कर मन्दिर की मासिक पूजा में महिलाएँ शामिल हो सकती थीं।

सर्वोच्च न्यायालय के इस फैसले का आम लोगों और श्रद्धालुओं ने स्वागत किया है, जबकि भाजपा जैसे कुछ राजनीतिक दल और उनके जन संगठन इस फैसले के विरोध में हैं। वे मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश को फिर से प्रतिबंधित करने के लिए सड़कों पर विरोध प्रदर्शन कर रहे हैं। इन संगठनों का मानना है कि इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने मन्दिर की परम्पराओं और धार्मिक आस्थाओं को ध्यान में नहीं रखा। उनका मानना है कि रजस्वला महिलाएँ मन्दिर में प्रवेश कर उस को अपवित्र कर देंगी, जिससे भगवान अयप्पा की शक्तियाँ कम हो सकती हैं। वे कहते हैं कि माहवारी के समय महिलाएँ अपवित्र हो जाती हैं। लेकिन सोचने वाली बात है कि माहवारी महिलाओं के लिए जरूरी प्राकृतिक क्रिया है। यह किसी महिला की खुद की इच्छा या अनिच्छा से संचालित नहीं होता।

किशोरावस्था में लड़के और लड़कियों के शरीर में कुछ प्राकृतिक बदलाव होते हैं। इससे लड़कियों का शरीर गर्भधारण के लिए तैयार होता है और उन्हें मासिक रक्तस्राव होने लगता है, जिससे तय होता है कि अमुक महिला गर्भधारण कर सकती है या नहीं। गर्भधारण के बाद माहवारी बन्द हो जाती है क्योंकि उसी खून से नये शिशु का शरीर बनता है। धर्मध्वजाधारियों के हिसाब से माहवारी के रक्त से बनने वाला शिशु का शरीर पवित्र है, लेकिन वह महिला अपवित्र है, जो उसे जन्म देती है और इसी के चलते उसका किसी भी पवित्र जगह पर आना-जाना वर्जित है।

आज महिलाओं के नाम के साथ रोज ही कुछ न कुछ उपलब्धियाँ जुड़ रही हैं, फिर भी उन्हें समाज में परम्पराओं और धार्मिक आस्थाओं के नाम पर दोयम दर्जे का व्यवहार झेलना पड़ता है। मन्दिरों में प्रवेश को लेकर महिलाएँ काफी लम्बे समय से संघर्ष कर रही हैं। इसमें महिलाओं को सफलता भी मिल रही है। लेकिन महिलाओं की असली समस्या मन्दिरों में प्रवेश को लेकर नहीं है, बल्कि महिलाओं के साथ होने वाले दोयम दर्जे के व्यवहार और उनके शोषण से जुड़ी है। इसका कारण समाज में व्याप्त पुरुषवादी सोच है जो महिलाओं को कभी एक उपयोगी वस्तु तो कभी एक अछूत वस्तु की तरह देखती है। इस भेदभाव के लिए धर्म और परम्पराओं का ही सहारा लिया जाता है। उन्हें विज्ञान और तर्क के आगे खड़ा कर दिया जाता है। फिर भी सर्वोच्च न्यायालय के इस फैसले से महिलाओं के संघर्ष को कुछ बल ही मिला है। किसी महिला को कब और कहाँ जाना चाहिए या किस उम्र में जाना चाहिए, ये उनके विवेक पर निर्भर होना चाहिए न कि परम्पराओं या धार्मिक आस्था के आधार पर।

सबरीमाला मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश को अनुमति देने के विरोध में सड़कों पर उतर रहे धर्मध्वजधारियों का मानना है कि परम्परा और आस्था के साथ न्यायालय को छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए। परम्परा कोई स्थायी चीज नहीं। समाज में हो रहे परिवर्तन के हिसाब से परम्पराओं और धार्मिक आस्थाओं में बदलाव होते रहे

हैं। एक समय पर सती प्रथा, नरबली, पशुबली या अश्वमेघ यज्ञ, जैसी कई परम्पराएँ और धार्मिक अनुष्ठान होते रहते थे, लेकिन आज इन सबको ही खराब माना जाता है। ये समाज में होने वाले बदलाव के साथ खत्म हो गये और इनकी जगह नयी परम्पराओं ने ली। परम्पराओं को बनाने और बदलने का काम समाज अपने हित-अहित के अनुसार करता है।

सबरीमाला मन्दिर के मुद्दे में आस्था और विश्वास से ज्यादा प्रभाव राजनीतिक पार्टियों का है। देश के दोनों ही बड़े राजनीतिक दल इस मुद्दे को अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए भुना रहे हैं। राजनीतिक दल जनता को उसके असली मुद्दों से भटकाने के लिए इस तरह के गैर-जरूरी मुद्दों को उठते रहते हैं जिससे जनता धर्म, जाति, लिंग और सम्प्रदाय के नाम पर एक-दूसरे के साथ तो लड़ती रहे, पर सरकार की जनविरोधी नीतिओं के खिलाफ एकजुट होकर संघर्ष न कर सके।

केरल राज्य में भाजपा और कांग्रेस दोनों ही दलों की हालत ठीक नहीं है। इसलिए दोनों ही दल केरल के हिन्दू मतदाताओं को हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर एकजुट करके अगले चुनाव के लिए वोट पाने का आधार तैयार कर रहे हैं। जैसाकि वे पहले ही गुजरात, उत्तर प्रदेश, पंजाब जैसे राज्यों में कर चुके हैं और अब उसी तरह का धार्मिक उन्माद केरल में भी शुरू करने की कोशिश की जा रही है। केरल की भाजपा इकाई के प्रमुख पी एस श्रीधरन पिल्लै का एक वीडियो दिखाया जा रहा है जिसमें वे कथित रूप से इस मुद्दे को पार्टी का एजेंडा बता रहे हैं और इसे अपने कार्यकर्ताओं को केरल में आधार तैयार करने का स्वर्णिम अवसर बता रहे हैं। वहीं भाजपा अध्यक्ष अमित शाह एक तरफ तीन तलाक जैसे महिला विरोधी रिवाज पर कानून के जरिये रोक लगाकर अपनी सरकार की पीठ थपथपा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर सबरीमाला मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश के फैसले पर सर्वोच्च न्यायालय को धर्म के बीच में न पड़ने की धमकी दे रहे हैं। इन दोनों ही उदाहरणों से हम देख सकते हैं कि राजनीतिक दलों की असली मनसा क्या है?

केरल जो इस समय बाढ़ से होने वाली तबाही को झेल रहा है। यह बाढ़ पिछले सौ सालों में होने वाली सबसे बड़ी तबाही है जहाँ 500 से ज्यादा लोग मारे जा चुके हैं। बहुत सारे लोग लापता हैं। किसानों के खेत पानी से भरे हुए हैं। लाखों लोगों का रोजगार खत्म हो गया है। वहाँ जनजीवन को सामान्य होने में अभी न जाने कितना समय लगने वाला है। लेकिन दुर्भाग्य ही है कि वहाँ की जनता इन राजनीतिक दलों के झूठे मुद्दों के बहकावे में आकर अपने असली जरूरतों-- रोटी, कपड़ा और आवास की माँगों के लिए सड़कों पर आने के बजाय राजनीतिक दलों के नकली मुद्दों के लिए सड़कों पर है।

आज हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती जनता के असली और नकली मुद्दों के बीच के फर्क को समझने की है। हमारे लिए असली समस्या रोजी-रोटी, शिक्षा, चिकित्सा, यातायात और आवास की है या मन्दिर, मस्जिद के निर्माण की या महिलाओं के इन में प्रवेश करने की? आज बहुत जरूरी हो गया है कि हम अपनी असली समस्याओं को समझें और इनके खिलाफ एकताबद्ध होकर सड़कों पर उतरें।

वैश्वीकृत भारत में स्वास्थ्य की दयनीय स्थिति

इण्डिया स्टेट लेवल डिजीज बर्डन इनिसिएटिव की 12 सितम्बर को जारी एक रिपोर्ट के अनुसार 1990 से 2016 तक के वैश्वीकरण के 26 सालों में दिल का दौरा पड़ने से होने वाली मौतों में 50 फीसदी की वृद्धि हुई है। शुगर(मधुमेह) के रोगियों की संख्या 2 करोड़ 60 लाख से बढ़कर 6 करोड़ 50 लाख तक पहुँच गयी है। इन्हीं 26 सालों में फेफड़ों के रोगियों की संख्या भी 2 करोड़ 80 लाख से बढ़कर 5 करोड़ 50 लाख हो गयी है।

रिपोर्ट बताती है कि 1990 से 2016 के बीच कैंसर से होने वाली मौतों में दो गुने की बढ़ोतरी हुई है। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग तरह के कैंसर का विस्तार हुआ है। विकसित क्षेत्रों में कैंसर की बीमारी गम्भीर रूप धारण कर चुकी है। कैंसर के रोगियों में केरल पहले स्थान पर है।

हृदय से सम्बन्धित रोगों में पंजाब पहले स्थान पर है और शुगर के रोगियों की संख्या तमिलनाडू में सबसे ज्यादा है।

रिपोर्ट यह भी बताती है कि आत्महत्या देश में नौजवानों (15-39 वर्ष) की मौत का सबसे बड़ा कारण बन चुकी है। आत्महत्या के मामले में भारत दुनिया के शीर्ष पर पहुँच गया है।

यह है भारत की जनता के लिए वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण का तोहफा।

देश में बढ़ती हड़तालें और धरना-प्रदर्शन

--अमरपाल

आज देश में ऐसा कोई राज्य नहीं है जहाँ धरने, प्रदर्शन और हड़तालें न चल रही हों। कहीं मजदूर हड़ताल पर हैं तो कहीं किसान आन्दोलन कर रहे हैं। कहीं शिक्षक और नौजवान धरने-प्रदर्शन कर रहे हैं तो कहीं पूर्व सैनिक सड़कों पर हैं।

दिल्ली सरकार ने दिल्ली ट्रांसपोर्ट कारपोरेशन (डीटीसी) के कर्मचारियों का वेतन कम करने का तुगलकी फरमान जारी कर दिया। इस कानून के खिलाफ 21 अक्टूबर को डीटीसी के संविदा कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। इसी दौरान शिक्षा विभाग, नगर-निगम एवं बाल विकास और दिल्ली शहरी आश्रम सुधार बोर्ड के संविदा कर्मचारियों ने भी हड़ताल की। इनकी माँगें बड़ी ही साधारण और संवैधानिक हैं-- समान काम, सामान वेतन की व्यवस्था लागू की जाये और नौकरी की सुरक्षा की पूरी गारन्टी दी जाये।

12 सितम्बर 2018 को पूर्वी दिल्ली नगर-निगम के सफाई कर्मचारियों ने वेतन का नियमित भुगतान और कर्मियों को स्थायी करने की माँग को लेकर हड़ताल कर दी। इस हड़ताल पर सर्वोच्च न्यायालय ने टिप्पणी की कि "यह दुर्भाग्यपूर्ण और दुखद है कि सफाई कर्मचारी वेतन के नियमित भुगतान की माँग कर रहे हैं और केन्द्र सरकार ने वेतन रोक रखा है।"

हरियाणा रोडवेज कर्मचारियों ने 16 अक्टूबर को हड़ताल कर दी क्योंकि सरकार ने रोडवेज को तहस-नहस करने के लिए 720 निजी बसों को परमिट दे दिया था। सरकार ने हड़तालियों से बातचीत करना तो दूर, उलटा इसेन्सियल सर्विस मेंटिनेंस एक्ट (ईस्मा) लगाकर उन्हें डराने की कोशिश की। सरकार ने हड़ताल का नेतृत्व कर रहे कई महत्त्वपूर्ण नेताओं और सैकड़ों कर्मचारियों को बर्खाश्त करने के आदेश दे दिया। पर इससे कर्मचारियों के हौसले पस्त नहीं हुए। लगभग 20 हजार कर्मचारियों ने हड़ताल जारी रखी। सरकार के रौंगटे तब खड़े हो गये जब राज्य के अन्य सरकारी विभागों और जनमानस ने हड़ताली कर्मचारियों का जबरदस्त समर्थन किया। अन्त में न्यायालय ने हड़ताल रुकवाने में दखल दिया।

राजस्थान में भी हड़तालें हो रही हैं। 28 सितम्बर को लो फ्लोर बस ठप्प रही। 17 हजार रोडवेज कर्मचारी हड़ताल पर चले गये। इनकी माँगें हैं कि जो कर्मचारी कच्चे हैं, उन्हें पक्का किया जाये, समय पर वेतन दिया जाये, मेडिकल की सुविधा दी जाये, रोडवेज का पूरी तरह से निजीकरण बन्द हो चाहे बस हो या डिपो, 8 हजार रिक्त पदों की भर्ती की जाये, सातवे वेतन आयोग का लाभ तुरन्त दिया जाये, पुरानी बसों की जगह नयी बसें लायी जायें, रोडवेज कर्मचारी हर महीने 5 प्रतिशत अधिक कमाई करके देने के हिटलरी फरमान से भी नाराज हैं क्योंकि कर्मचारियों को मात्र 9 हजार रुपये मासिक वेतन मिलता है और डबल ड्यूटी अलग से करनी पड़ती है।

उत्तर प्रदेश में बीटीसी और उर्दू शिक्षक नियुक्ति पत्र लेने के लिए लगातार धरना-प्रदर्शन कर रहे हैं। लाखों शिक्षामित्र समय से बढ़े हुए वेतन की माँग को लेकर धरने पर हैं। पूरे राज्य में लेखपाल वेतन बढ़ाने को लेकर हड़ताल पर चले गये। वहीं बिजली विभाग के कर्मचारी तेजी से हो रहे निजीकरण के खिलाफ प्रदर्शन कर रहे हैं।

आशा सहयोगिनी अपनी न्यूनतम मजदूरी की माँग कर रही हैं। इनको मात्र 2500 रुपये महीने मिलते हैं जबकि इन्हें तीन विभागों में काम करना पड़ता है-- स्वास्थ्य विभाग, महिला और बाल विकास तथा पंचायती राज विभाग। लेकिन सरकार इनकी जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं है। इसलिए यह भी आज सड़कों पर लड़ रही हैं और यह सवाल भी है कि क्या इतने कम पैसों में काम कराना गैर-कानूनी नहीं है? क्या यह सरकार अंधी है?

इसी तरह रोडवेज हड़ताल की अगली कड़ी पांडिचेरी के रोडवेज कर्मचारी हैं, जो 29 अक्टूबर 2018 को वेतन बढ़ाने की माँग के साथ हड़ताल पर चले गये।

राष्ट्रीय स्तर पर 30-31 मई 2018 को 10 लाख बैंक कर्मचारियों की हड़ताल हुई। इनकी माँग थी-- काम के हालात सुधारे जायें, वेतन बढ़ाये जायें। पिछले 5 साल से कोई वेतन नहीं बढ़ाया गया। बैंकों में नोटबन्दी के दौरान जो ओवरटाइम किया उसका भुगतान किया जाये। 16-16 घण्टे काम के बाद नोटबन्दी में आया फटा-सड़ा खराब नोट, नकली नोट या कम नोट सभी का घाटा बैंक कर्मियों को उठाना पड़ा, उसका भुगतान किया जाये। बैंक कर्मियों ने बताया कि बैंक को घाटा उनकी वजह से नहीं है। एनपीए का नुकसान बड़े उद्योगपतियों ने बैंक के बड़े अधिकारियों और नेताओं के साथ मिलकर किया और उन्हें देश से बाहर भगाने का काम सरकार ने किया, हम जैसे छोटे कर्मचारियों ने नहीं।

हमारे लिए तो कोई छुट्टी भी नहीं। रविवार में भी काम।

कर्मचारियों का 2 प्रतिशत और अपनी तनख्वाह कई गुना बढ़ा रहे हैं ये नेता। कैसी सरकार है?

लाखों अर्द्धसैनिक बलों के साथ भी भेदभाव है। इसलिए ये जवान सेना की तरह समान पेंसन और वेतन की माँग को लेकर लगातार धरने-प्रदर्शन कर रहे हैं। इस बीच पूरे देश के बेरोजगार नौजवान भी एसएससी और अन्य भर्तियों में हो रही धाँधली को लेकर सड़कों पर उतरे।

राष्ट्रीय स्तर पर ट्रांसपोर्टर भी 20 जुलाई से डीजल की बढ़ती कीमतों और डीजल को जीएसटी के अन्दर लेने की माँग को लेकर हड़ताल पर चले गये। सरकार के पास लाठी-गोली के अलावा उन हड़तालियों को देने के लिए कुछ नहीं।

यह तो हुई मजदूरों, कर्मचारियों और बेरोजगारों की बात, लेकिन आज अगर देशवासी अपनी संस्कृति और पर्यावरण को बचाना चाहते हैं तो उसे लाठी-गोली और जेल मिल रही है और उन्हें विकास विरोधी बताया जा रहा है। इसका ज्वलन्त उदाहरण है तूतीकोरिन जहाँ 13 आन्दोलनकारियों को चुन-चुनकर गोली मारी गयी।

किसान अगर अपनी फसल का समय से वाजिब दाम माँगें तो उसे भी लाठी-गोली मिलती है जैसे पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गन्ना किसानों का किसान क्रान्ति यात्रा के दौरान यूपी बार्डर पर मिली। पिछले साल मध्य प्रदेश के 6 किसानों की गोली मारकर हत्या कर दी गयी थी, जब वे अपनी माँगों को लेकर प्रदर्शन कर रहे थे। जमीन अधिग्रहण मामले में भी किसानों का तब दमन किया गया जब उन्होंने अपनी जमीन देने से मना किया या जमीन का सही मुआवजा माँगा। जैसे-- गाजियाबाद, नोएडा, मेरठ और जयपुर में किसानों पर लाठियाँ बरसायी गयीं और उलटा उन पर ही मुकदमे दर्ज किये गये। इसके बाद भी सरकार किसानों का मनोबल तोड़ने में कामयाब नहीं हुई। किसानों के आन्दोलन में लगातार वृद्धि इस बात का संकेत दे रही है कि वे चुप बैठने वाले नहीं हैं।

मजदूर समय से अपने वेतन और अपने हक-हकूकों की माँग करें तो लाठी-गोली मिल रही है। जैसे-- अभी दिल्ली में सफाई कर्मचारियों को मिली। उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ की सड़कों पर तो आये दिन प्रदर्शनकारी लहुलुहान होते हैं। वहीं दूसरी तरफ राज्य सरकारें या केन्द्र की सरकार देश के पूँजीपतियों के लाखों-करोड़ों रुपये का कर्ज माफ कर रही है। लेकिन गरीब मेहनतकश मजदूरों और किसानों के लिए सरकार के पास पैसा नहीं है। राष्ट्रीय कोष जनता के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के द्वारा भरा जाता है लेकिन उस पर उनका कोई हाथ नहीं।

अब सबसे बड़ा सवाल यह है कि आखिर सरकार ऐसा क्यों कर रही है? ऐसी कौन सी नीतियाँ हैं जिनके द्वारा आज जनता पर निर्मम अत्याचार और शोषण हो रहा है। सरकार किसी की भी बने, लूटतंत्र रुकने के बजाय बढ़ता जा रहा है। आज देश की खराब होती हालत के चलते ही पूरा देश हड़तालों-धरना-प्रदर्शनों में तब्दील होता जा रहा है। इसकी सबसे बड़ी वजह देश में लागू उदारीकरण, वैश्वीकरण और निजीकरण की नयी आर्थिक नीतियाँ हैं। नयी आर्थिक नीतियों का एक ही मकसद है-- जनता से छीनकर देशी-विदेशी पूँजीपतियों की झोली भरना।

सरकार आज किसी भी कीमत पर नयी आर्थिक नीतियों से पीछे हटने को तैयार नहीं है। सरकार किसी की भी सत्ता में आये, उसका सबसे पहला काम इन नीतियों को बढ़ा-चढ़ाकर लागू करने का ही है। इसलिए विपक्ष कहीं भी मुखर विरोध नहीं कर पा रहा है, सिवाय औपचारिक बयानबाजी और घड़ियाली आँसू बहाने के। इस स्थिति से हम समझ सकते हैं कि आज देश में विपक्ष है ही नहीं। जब तक हम इन जनविरोधी नीतियों को नहीं समझेंगे तब तक हम इन समस्याओं से नहीं लड़ सकते। इसलिए हर क्षेत्र में जबरदस्त विरोध तथा त्याग और बलिदान के बावजूद कोई भी आन्दोलन ज्यादा सफल नहीं हो रहा है और न ही सरकार पीछे हटती दिखाई दे रही है, सिवाय झूठे आश्वासन देने के।

आखिर इसकी वजह क्या है कि जनता के संघर्ष और आन्दोलन कामयाब नहीं हो पा रहे हैं? इसकी वजह एकदम साफ है कि समस्या का सही कारण न समझ पाना जिसके चलते हमारे संघर्षों का निशाना सही जगह न लगकर भटक जाता है।

हमें इसकी असली जड़ को समझना होगा। जब अलग-अलग तबके और वर्गों की विभिन्न माँगे कहीं न कहीं जाकर नयी आर्थिक नीतियों से टकरा रही हैं। चाहे वह सार्वजनिक उद्योग और सेवा क्षेत्र का निजीकरण हो, नौजवानों की भर्तियों को कम करना हो या किसानों की सब्सिडी खत्म करने का मामला हो, और यह सब नयी आर्थिक नीति का नतीजा है। ये नीतियाँ सरकार और पूँजीपतियों के पक्ष में हैं जबकि जनता के भले के लिए इन नीतियों का खात्मा जरूरी है, जो सरकार होने नहीं देती है। इन नीतियों का मतलब है-- नयी गुलामी। आज शासक वर्ग हमारे ही रंग-रूप का है, लेकिन उसकी नीतियाँ गोरे अंग्रेजों से भी ज्यादा खतरनाक हैं। इसलिए नयी आर्थिक गुलामी का हल भी एक ही है। जिस तरह से हम एकजुट होकर गोरे अंग्रेजों से लड़े थे उसी तरह जाति-धर्म, क्षेत्र से ऊपर उठकर ही हम काले अंग्रेजों की काली नीतियों से लड़ सकते हैं। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं।

क्या लोकतन्त्र का लबादा ओढ़े अमरीका तानाशाही में बदल गया है?

--जॉन डब्ल्यू व्हाइटहैड

"गरीब और दबे कुचले लोग बढ़ते जा रहे हैं। नस्लीय न्याय और मानवाधिकार बचे नहीं हैं। उन्होंने एक दमनकारी समाज बनाया है और हम सब इच्छा न होते हुए भी उनके साथी हैं। उनका इरादा बचे हुए लोगों की चेतना का सत्यानाश करके शासन करने का है। हमें थपकियाँ दे-देकर समाधि में सुलाया जा रहा है। उन्होंने हमें हमसे ही अलग कर दिया है और दूसरों से भी। हमारा ध्यान सिर्फ अपने फायदे पर ही रहता है।"

--*दे लिव* (1988), जॉन कारपेंटर।

हम दो दुनिया में रहते हैं, आप और मैं।

एक दुनिया, जिसे हम देखते हैं (देखने के लिए ही बने हैं) और फिर दूसरी दुनिया, जिसे हम महसूस करते हैं (कभी-कभी इसकी एक झलक ले लेते हैं)। इसमें दूसरी वाली दुनिया सरकार और उसके प्रायोजकों (स्पॉंसर) द्वारा संचालित प्रचार और गढ़ी गयी वास्तविकता से कोसों दूर है, प्रचार में मीडिया भी शामिल है।

वास्तव में, ज्यादातर अमरीकी समझते हैं कि अमरीका में जीवन विशेषाधिकार प्राप्त, प्रगतिशील और स्वतंत्र है। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि आर्थिक गैरबराबरी बढ़ रही है, वास्तविक कार्यसूची और वास्तविक ताकत ओर्वेलियन द्विअर्थी शब्दों और कॉर्पोरेट के अन्धकार की परतों के नीचे दफन कर दी गयी है और "स्वतन्त्रता" बन गयी है-- सशस्त्र फौज के मुँह के लिए छोटी सी कानूनवादी खुराक।

सब कुछ वैसा नहीं है जैसा दिखाई देता है।

"आप उन्हें गलियों में देखते हैं। आप उन्हें टेलीविजन पर देखते हैं। यहाँ तक कि आप इस पतन के लिए उन्हें वोट दे देते हैं। आप सोचते हैं कि वे बिलकुल आप जैसे हैं। आप गलत हैं। पूरी तरह से गलत।"

यह बात **जॉन कारपेंटर की फिल्म *"दे लिव"*** में प्रस्तावना के तौर पर कही गयी है। यह फिल्म 30 साल पहले नवम्बर 1988 को रिलीज हुई थी और आज भी हमारे आधुनिक दौर के लिए भयावह रूप से बेचैन करनेवाली एकदम उपयुक्त फिल्म है।

अपनी डरावनी फिल्म *हैलोवीन* (1978) के लिए पहचाने जाने वाले कारपेंटर, यह मानते हैं कि शैतान का कहीं न कहीं निवास है इसलिए अँधेरा खत्म नहीं किया जा सकता। कारपेंटर के काम का ज्यादातर हिस्सा सत्तावादी और स्थापित चीजों की खिलाफत को मजबूती से समेट लेता है। फिल्म बनाने वाले का थोड़ा सा झुकाव उस सरोकार में है जिसमें वह हमारे समाज और खास तौर पर सरकार की परतें उधेड़ते हैं।

कई बार, कारपेंटर ने चित्रित किया है कि सरकार अपने नागरिकों के खिलाफ काम कर रही है, **बहुत से लोगों को सच्चाई छू तक नहीं पा रही है**, तकनीक आपे से बाहर है और भविष्य किसी भी डरावनी फिल्म से ज्यादा डरावना है।

इस्केप फ्रॉम न्यूयॉर्क (1981) में, कारपेंटर फासीवाद को अमरीका के भविष्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

द थिंग (1982), यह 1951 में बनी विज्ञान गल्प क्लासिक की रीमेक है। इसमें भी कारपेंटर का मानना है कि हम सब तेजी से अमानवीय हो रहे हैं।

क्रिस्टीन (1983), यह फिल्म भूत-प्रेत द्वारा कब्जाई गयी कार के बारे में स्टीफन किंग के उपन्यास पर बनी है। इसमें तकनीक अपनी इच्छा और चेतना का प्रदर्शन करती है और कातिलाना उपद्रव करने लगती है।

इन द माउथ ऑफ मेडनेस में कारपेंटर बताते हैं कि बुराई तब बढ़ने लगती है "जब लोग यथार्थ और कपोल कल्पना (फंतासी) के बीच अन्तर करने की योग्यता खो देते हैं।"

और फिर कारपेंटर की *दे लिव* (1988) है जिसमें दो प्रवासी मजदूर यह जान लेते हैं कि दुनिया वैसी नहीं है जैसी यह दिखती है। वास्तव में जनता एलिएंस (दूसरे ग्रह के वासियों) द्वारा नियंत्रित और शोषित की जा रही है। एलिएंस कुलीनतंत्रीय अभिजात वर्ग के साथ साझेदारी में काम कर रहे हैं। हर समय, जनता अपनी जिन्दगी को प्रभावित करने वाले वास्तविक एजेंडे से आनन्दपूर्वक अनजान है-- खुश करके सुला दी गयी है, उसे आज्ञापालन की शिक्षा दी गयी है, उस पर मीडिया भटकाओं की बमबारी की गयी है, टेलीविजन और दूसरे इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों द्वारा अशिष्ट सन्देशों से सम्मोहित किया गया है और वह इसी

तरह की तमाम चीजों से अनजान है।

यह तब पता चलता है जब बेघर आवारा जॉन नडा (स्वर्गीय रोडी पाइपर ने यह भूमिका निभायी थी) एक डॉक्टर्ड हॉफमन लेंस वाले धूप के चश्मे की एक जोड़ी खोज लेता है। उससे वह देखता है कि अभिजात वर्ग द्वारा गढ़ी गयी वास्तविकता की परतों के नीचे क्या झूठ छुपा हुआ है-- नियंत्रण और बन्धन।

जब सच्चाई के लेंस से देखा गया तब अभिजात वर्ग का लबादा हट गया। जो इससे पहले बहुत ही मानवीय दिखते थे वे उन राक्षसों के रूप में दिखायी देते हैं जिन्होंने नागरिकों का शिकार करने के लिए उन्हें गुलाम बना रखा है।

इसी तरह, विज्ञापन तख्तियों में छिपा सच बाहर दिखता है, आधिकारिक सन्देशों का पर्दाफाश होता है-- एक विज्ञापन में बिकनी पहने हुए महिला के पीछे सन्देश है-- जैसे वह दर्शकों को **"शादी और प्रजनन"** के लिए आदेश दे रही हो। एक पत्रिका चिल्लाती है **"उपभोग करो"** और **"आज्ञा पालन करो"**। विक्रेता के हाथों में डॉलर की एक गड्डी दावा करती है, **"यह आपका भगवान है।"**

जब नडा के हॉफमन लेंसों से देखा गया तब लोगों के अवचेतन में ठूँसे गये छुपे सन्देश नजर आये-- **कोई स्वतंत्र सोच नहीं, उनके अनुरूप ढलना, अधीनता स्वीकार करना, सोते रहो, खरीददारी करो, टीवी देखो, कोई कल्पना मत करो और सत्ता से सवाल मत पूछो**।

दे लिव में अभिजात वर्ग द्वारा इस आज्ञापालन अभियान से, जिसने अमरीकी संस्कृति के पतन का अध्ययन किया हो, भलीभाँति परचित है।

एक नागरिक जो अपने जैसों के लिए नहीं सोचता है, बिना किसी सवाल के आज्ञा पालन करता है, दब्बू है, सत्ता को चुनौती नहीं देता, बने-बनाये ढर्रे के बाहर नहीं सोचता है और बैठकर मनोरंजन करता है, तो वह ऐसा नागरिक है जिसे आसानी से नियंत्रित किया जा सकता है।

इस तरह *दे लिव* का मुख्य सन्देश एक ऐसा सही नजरिया देता है जबकि अमरीकी पुलिस राज्य में जिन्दगी के बारे में हमारा नजरिया विकृत है। जैसा कि दार्शनिक स्लावो जिजेक ने "लोकतन्त्र में तानाशाही" के सन्दर्भ में कहा है, "अदृश्य व्यवस्था जो हमारी आभासी स्वतन्त्रता को बनाये रखती है।"

हमको सावधानी से गढ़ी गयी ऐसी कपोल कल्पना की खुराक दी जा रही है, जिसका वास्तविकता से कोई लेना-देना नहीं है।

सत्ता हमें ऐसी ताकतों से डराना चाहती है जो हमारे नियंत्रण से बाहर हैं, जैसे-- आतंकवादियों, निशानेबाजों और हमलावरों से।

वे हमारी सुरक्षा और कल्याण के लिए सरकार और हथियारबन्द सेनाओं से डराना और उन पर आश्रित बनाना चाहती हैं।

वे चाहती हैं कि अपने पूर्वाग्रहों के चलते हम आपस में बँट जायें, एक-दूसरे का विश्वास न करें और एक-दूसरे के खून के प्यासे बन जायें।

उनमें से ज्यादातर, अपने हुक्म के अनुसार हमसे कदमताल करवाना चाहते हैं।

हमें विचलित करने, भटकाने और मदहोश करने के सरकारी प्रयास की गन्दगी को असफल करना है, और इस देश में जो वास्तविकता है उसके सुर में सुर मिलाना है, और तब आप अचूक, ठोस सत्य की तरफ सिर के बल आगे बढ़ेंगे। धनवान अभिजात वर्ग जो हम पर शासन करता है, वह हमें बलि का बकरा समझता है और कभी भी बलिदान करने को तैयार है; हमें उपभोग का संसाधन समझता है, दुर्व्यवहार का पात्र और त्याज्य समझता है।

असल में, प्रिंसटन और नॉर्थवेस्टर्न यूनिवर्सिटी ने एक अध्ययन से निष्कर्ष निकाला है कि अमरीकी सरकार अमरीकी नागरिकों के बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। निस्सन्देह, इस अध्ययन से पता चला कि सरकार धनवानों और ताकतवर या कहिए आर्थिक रूप से अभिजात वर्ग द्वारा चलायी जा रही है। इसके अतिरिक्त, अनुसंधानकर्ताओं ने निष्कर्ष निकाला कि इस सरकार द्वारा बनायी गयी नीतियों से लगभग हमेशा अभिजात वर्ग का विशेष लाभ होता है और उनमें लॉबिंग करने वाले गिरोहों का पक्ष होता है।

दूसरे शब्दों में, हम पर लोकतन्त्र का लबादा ओढ़े कुलीनतंत्र द्वारा शासन किया जा रहा है और यकीनन हमें फासीवाद के रास्ते पर बढ़ाया जा रहा है। फासीवाद में एक ऐसी सरकार होती है जिसमें निजी व्यवसायों के हिसाब से नियम बनते हैं, जिसमें धन को भगवान कहा जाता है, जनता को महज नियंत्रित किये जाने लायक समझा जाता है।

आजकल चुनाव में जीतने के लिए आपको न केवल धनवान होना पड़ेगा, बल्कि धन्नासेठों पर पकड़ भी कायम रखनी होगी। वैसे चुनाव में जीतना अपने आप में अमीर बनने का सटीक रास्ता है। सीबीएस समाचार के अनुसार एक बार चुने जाने के बाद कांग्रेस के सदस्य, सम्बद्धों और सूचनाओं तक पहुँच जाने का लाभ उठाते हैं, और वे अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने में इनका इस्तेमाल करते हैं। ऐसा शानदार रास्ता निजी क्षेत्र में ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा। यहाँ तक कि जब राजनीतिज्ञ किसी पद पर नहीं रहते तब भी उनके सम्बन्ध उन्हें फायदा पहुँचाते रहते हैं।

अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था के इस जबरदस्त भ्रष्टाचार की निन्दा करते हुए, भूतपूर्व राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने व्हाइट हाउस, गवर्नर की हवेली के लिए चुनाव की प्रक्रिया का भण्डाफोड़ करते हुए, कांग्रेस या राज्य विधायिकाओं को "असीमित राजनीतिक रिश्वत" करार दिया था और कहा था कि ''हमारी राजनीतिक व्यवस्था में जो जिसका खायेगा उसका गायेगा जैसी

स्थिति पैदा हो गयी। वे कार्यकाल पूरा हो जाने के बाद भी अपने हित साधने की चाहत रखते हैं और कभी-कभी उसमें कामयाब भी हो जाते हैं।''

लगता है कि अमरीका में फासीवाद जब अपनी अन्तिम कील ठोकेगा, तब भी सरकार का मूलरूप ऐसा ही बना रहेगा-- फासीवाद दोस्ताना लगेगा। सत्र में विधायक होंगे, चुनाव भी होंगे, और मीडिया इसी तरह मनोरंजन और मामूली राजनीति पर समाचार देता रहेगा। वास्तव में पर्दे के पीछे से सरकार का नियंत्रण पूरी तरह कुलीनतंत्र के हाथों में सौंप दिया जायेगा।

जानी पहचानी आवाज?

स्पष्ट रूप से, आज हम सरकारी और कार्पोरेट हितैषी अभिजात वर्ग द्वारा शासित हैं।

हम "कॉर्पोरेटवाद" (मुसोलिनी इसी का पक्षधर था) में घुस चुके हैं। यह फासीवाद के नंगे नाच के रास्ते के बीच में एक पड़ाव है।

कॉर्पोरेटवाद वह व्यवस्था है जहाँ कुछ धन्नासेठों के हितों के लिए, बहुसंख्यक पर शासन किया जाता है, धन्ना सेठों के इन हितों का चुनाव नागरिक नहीं करते। इस तरह से, यह लोकतन्त्र या सरकार का गणतांत्रिक रूप नहीं है, जिसके लिए कभी अमरीकी सरकार स्थापित की गयी थी। यह शीर्ष द्वारा नीचे के लोगों पर शासन करने वाली सरकार का एक रूप है और यह अतीत के उन साम्राज्यवादी शासनों का एक आदर्श रूप है, जिनके विकास का एक भयानक इतिहास है-- यह एक पुलिस राज्य है, जहाँ हर किसी के ऊपर निगरानी की जाती है, मामूली बात पर ही सरकारी एजेंटों द्वारा घेरकर पुलिस नियंत्रण और हिरासत शिविरों में रखा जाता है।

फासीवाद के अन्तिम प्रहार के लिए एक सबसे महत्त्वपूर्ण घटक की जरूरत होगी-- यानी अधिकांश लोगों को यह मानना होगा कि यह केवल फायदेमन्द ही नहीं बल्कि आवश्यक भी है।

लेकिन एक ऐसे दमनकारी शासन से लोग क्यों सहमत होंगे?

उत्तर हर युग में एक ही है : डर।

डर लोगों को मूर्ख बनाता है।

डर राजनीतिज्ञों द्वारा सरकार की ताकत बढ़ाने के लिए अक्सर उपयोग किया जाने वाला तरीका है। और जैसा कि अधिकांश सामाजिक टिप्पणीकारों ने स्वीकार किया है कि आधुनिक अमरीका में डर का माहौल है-- आतंकवाद का डर, पुलिस का डर, अपने पड़ोसियों का डर और इसी तरह अन्य डर।

डर के दुष्प्रचार का उन लोगों द्वारा काफी प्रभावी ढंग से उपयोग किया जाता है जो नियंत्रण हासिल करना चाहते हैं, और यह अमरीकी आम जनता पर काम कर रहा है।

इन तथ्यों के बावजूद कि आतंकवादी हमले की तुलना में दिल की बीमारी से मरने की हमारी सम्भावना 17,600 गुना ज्यादा है; एक हवाई जहाज के किसी आतंकवादी साजिश का शिकार होने की तुलना में हवाई जहाज दुर्घटना से मरने की सम्भावना 11,000 गुना अधिक है, आतंकवादी हमले की तुलना में एक कार दुर्घटना से मरने की 1,048 गुना अधिक सम्भावना है और एक आतंकवादी की तुलना में एक पुलिस अधिकारी के हाथों मरने की 8 गुना अधिक सम्भावना है, हमने सरकारी अधिकारियों को अपने जीवन का नियंत्रण सौंप दिया है जो हमें एक वस्तु समझते हैं और ज्यादा से ज्यादा धन और सत्ता पाने का स्रोत मानते हैं ।

जैसा कि *दे लिव* फिल्म में दाढ़ी वाला आदमी चेतावनी देता है, 'वे सो रहे मध्यम वर्ग को खत्म कर रहे हैं। अधिक से अधिक लोग गरीब बन रहे हैं। हम उनके मवेशी हैं। हम दासता के लिए पैदा हुए हैं।'

इस सम्बन्ध में, हम *दे लिव* फिल्म में उत्पीड़ित नागरिकों से ज्यादा अलग नहीं हैं।

पैदा होने से मरने तक हम इस बात पर विश्वास करते हैं कि जो लोग हम पर शासन करते हैं, वे हमारे भले के लिए करते हैं। सच इससे बहुत अलग है।

सच्चाई का सामना करने के बजाय, हम खुद को भयभीत, नियंत्रित, ठंडी लाश बन जाने देते हैं।

हम नकार की सतत अवस्था में जीते हैं जो दीवार-दर-दीवार लिखे मनोरंजक समाचारों और चलचित्र उपकरणों की वजह से अमरीकी पुलिस राज्य की दर्दनाक सच्चाई से बेखबर है।

इन दिनों अधिकांश लोग लाश की तरह सिर को मोबाइल की स्क्रीन में घुसाये घूमते रहते हैं, भले ही वे सड़क पार कर रहे हों। परिवार अपने सिर को नीचे झुकाये रेस्तराँ में बैठते हैं, अपनी-अपनी स्क्रीन की वजह से साथ होकर भी अलग होते हैं और उनके आस-पास क्या हो रहा है इससे अनजान रहते हैं। विशेष रूप से युवा अपने हाथों में रखे उपकरणों के प्रभुत्व में रहते हैं, इस तथ्य से अनजान हैं कि वे आसानी से एक बटन दबा कर, उपकरण को बन्द कर सकते हैं और आराम से आ-जा सकते हैं।

दरअसल, स्क्रीन यानी टेलीविजन, लैपटाप, कम्प्यूटर, सेल फोन आदि, देखने से बढ़कर कोई सामूहिक गतिविधि नहीं है। वास्तव में, नीलसेन अध्ययन की एक रिपोर्ट से पता चलता है कि अमरीका में स्क्रीन देखना हमेशा उच्चस्तर पर बना रहता है। उदाहरण के लिए, औसत अमरीकी प्रति माह लगभग 151 घण्टे टेलीविजन देखता है।

सवाल उठता है कि स्क्रीन के इतने इस्तेमाल का किसी के दिमाग पर क्या असर होता है?

मनोवैज्ञानिक रूप से यह नशे की लत जैसा है। शोधकर्ताओं ने पाया कि 'टीवी चलते ही दर्शक ने ज्यादा आरामदायक महसूस किया और चूँकि ऐसा बहुत तेजी से हुआ है, इसलिए टीवी बन्द होते ही तनाव उतनी ही तेजी से लौट आता है, टीवी देखना लोगों के लिए तनाव कम करने की जरूरी शर्त है।' शोध यह भी दिखाता है कि प्रोग्राम में दिलचस्पी न रखने के बावजूद,

दर्शकों के दिमाग की तरंगें धीमी हो जाती हैं, इस प्रकार उन्हें ज्यादा निष्क्रिय और अप्रतिरोधी अवस्था में बदल देती हैं।

ऐतिहासिक रूप से, टेलीविजन का इस्तेमाल सत्ता में बैठे लोगों द्वारा असन्तोष को ठण्डा करने और विध्वंसकारी लोगों को शान्त करने के लिए किया जाता है। न्यूजवीक के अनुसार, 'बढ़ती भीड़ तथा पुनर्वास और परामर्श के लिए कम बजट की गम्भीर समस्या के चलते अधिकतर जेल अधिकारी कैदियों को शान्त रखने के लिए टीवी का उपयोग कर रहे हैं।'

हम सब जानते हैं कि अमरीकियों द्वारा टेलीविजन पर जो कुछ भी देखा जाता है, वह छह बड़े निगमों द्वारा नियंत्रित चैनलों के माध्यम से प्रसारित किया जाता है, जिसे हम देखते हैं वह कॉर्पोरेट अभिजात वर्ग द्वारा नियंत्रित किया जाता है और यदि उस अभिजात वर्ग को किसी विशेष विचारधारा को बढ़ावा देने या अपने दर्शकों के गुस्से पर काबू करने की आवश्यकता होती है, तो वह ऐसा बड़े पैमाने पर कर सकता है।

अगर हम टीवी देख रहे हैं, तो हम कुछ नहीं कर रहे हैं।

सत्ता इसका अर्थ समझाती है। जैसे कि टेलीविजन पत्रकार एडवर्ड आर मुरो ने 1958 के भाषण में चेतावनी दी थी--

''इस समय हम अमीर, मोटे, आरामदायी और आत्मसन्तुष्ट हैं। इस समय अप्रिय या परेशान करने वाली जानकारी के प्रति हमारे मन में घृणा है। हमारा जन मीडिया इसे प्रतिबिम्बित करता है। लेकिन जब हम अपने अतिरिक्त मोटापे को दूर नहीं कर देते और यह नहीं मान लेते कि टेलीविजन का उपयोग मुख्य रूप से विचलित करने, भ्रमित करने, जी बहलाने और हमें बाँटने के लिए किया जाता है, तब जाकर टेलीविजन और जो इसे वित्तपोषित करते हैं, जो इस पर निगरानी रखते हैं और जो लोग इसमें काम करते हैं उनकी एक पूरी तस्वीर उभर सकती है।"

यह बात मुझे वापस *दे लिव* फिल्म पर ले आती है। जिसमें शॉट्स बोलने वाले एलियंस असली मुद्दा नहीं हैं बल्कि जनता है जो नियंत्रित होने पर आनन्दित हो रही है।

सारी बातों का लब्बोलुवाब यह है कि *दे लिव* की दुनिया हमारी दुनिया से बहुत अलग नहीं है।

हम भी, केवल अपने निजी सुख, पक्षपात और मुनाफे पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। हमारे गरीब और दबे-कुचले लोग बढ़ रहे हैं। नस्लीय अन्याय बढ़ रहा है। मानवाधिकार लगभग खत्म है। हम भी दूसरों के प्रति उदासीन, एक समाधि में थपकियाँ दे-देकर सुला दिये गये हैं।

हमारे आगे क्या झूठ बोला जा रहा है उसके प्रति हमें भुलक्कड़ बना दिया गया है, हमें हेरफेर के दम पर यह विश्वास दिलाया जा रहा है कि यदि हम उपभोग करना, आज्ञापालन करना और विश्वास करना जारी रखते हैं, तो अच्छे दिन आ जायेंगी। लेकिन यह मजबूत होते शासनों के बारे में कभी भी सच नहीं रहा है। और जब तक हम महसूस करेंगे कि हथौड़ा हमारे सिर के ऊपर आ रहा है, तब तक बहुत देर हो जायेगी।

तो फिल्म के अन्त में वह हमें कहाँ छोड़ता है?

कारपेंटर की फिल्मों को आबाद करने वाले कुछ पात्र अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

अपनी मर्दानगी के झंडे के नीचे वे अभी भी स्वतंत्रता और समान अवसर के आदर्शों में विश्वास करते हैं। उनकी धारणा उन्हें कानून और प्रतिष्ठान के लगातार विरोध में रखती है, लेकिन फिर भी वे कोई और नहीं, स्वतंत्रता सेनानी हैं।

उदाहरण के लिए, जब जॉन नडा *दे लिव* फिल्म में विदेशी हाइनो-ट्रांसमीटर को नष्ट कर देते हैं, तो वह अमरीका को आजादी के लिए जागृत करके फिर से आशा बहाल करते हैं।

यह सबसे महत्त्वपूर्ण है-- हमें जागने की जरूरत है।

अपने आप को व्यर्थ राजनीतिक नजरिये द्वारा आसानी से विचलित होने की अनुमति देना बन्द करें और देश में वास्तव में क्या चल रहा है उस पर ध्यान दें।

रिपब्लिकन और डेमोक्रेट के बीच इस देश के नियंत्रण के लिए असली लड़ाई मतपत्र से नहीं चल रही है।

जैसा कि मैंने अपनी पुस्तक, "बैटलफील्ड अमरीका-- द वॉर ऑन द अमरीकन पीपल" में स्पष्ट किया है, इस देश के नियंत्रण के लिए असली लड़ाई सड़कों पर, पुलिस के वाहनों में, गवाह के कठघरे में, फोन लाइनों पर, सरकारी कार्यालयों में, कॉर्पोरेट कार्यालयों में, सार्वजनिक स्कूल के बरामदे और कक्षाओं में, पार्क और नगर परिषद की बैठकों में, तथा इस देश के कस्बों और शहरों में हो रही है ।

आजादी और अत्याचार के बीच असली लड़ाई हमारी आँखों के ठीक सामने हो रही है, हमें बस आँखों को खोलने की जरूरत है।

अमरीकी पुलिस राज्य के सभी साजो-सामान अब सीधे दिख रहे हैं।

जाग जाओ, अमरीका।

यदि वे (अत्याचारी, उत्पीड़क, आक्रमणकारी, अधिपति), जिन्दा हैं तो केवल इसलिए क्योंकि 'हम लोग' सोये हुए हैं।

अनुवाद : राजेश कुमार

(काउण्टरपंच डॉट ऑर्ग से साभार)

"मैं" और "हम"

--माइकल डी येट्स

मैं और मेरी पत्नी मोटर गाड़ी से सान जोक्विन घाटी के उत्तरी और पश्चिमी हिस्से में, सिंचाई की उन नहरों के किनारे-किनारे घूमे जो खेत मालिकों को सरकारी सहायता पाने में मदद करती हैं। जब कीटनाशकों से हमारा दम घुटने लगा तो हमने अफसोस जाहिर किया कि हवा अशुद्ध होने के कारण पूरब के पहाड़ों को हम देख नहीं पाये जो कोई ज्यादा दूर नहीं थे। यहाँ के फार्म और खेत बहुत बड़े और काफी मशीनीकृत हैं। जिन शोधों ने मशीनों को सम्भव बनाया वे सार्वजनिक खर्चे पर सरकारी विश्वविद्यालयों में होते हैं, जैसे कैलिफोर्निया के डेविस में-- खेत मालिकों के लिए एक और सरकारी सहायता। मजदूरी अभी भी सस्ती है एक और सरकारी सहायता जो सरकार की ओर से थोपी गयी है, जिसके लिए खेत मालिकों से मिलने वाला पैसा इतना ज्यादा होता है कि बेहतर कानून नहीं बनाये जाते और जो बने हुए हैं उनको लागू नहीं किया जाता। यह पैसा स्थानीय पुलिस का भय दिखाने के लिए भी पर्याप्त है जो आज भी प्रवासी खेत मजदूरों को वैसे ही सताते और उन पर अत्याचार करते हैं जैसे-- स्टाइन बेक के उपन्यास के मुख्य चरित्र टॉम जोड को शेरिफ धमकाता था।

हमारा ठिकाना "प्वाइन्ट रेस नेशन सी शोर" में एक होटल था जो सन फ्रांसिस्को से उत्तर-पश्चिम में लगभग पैंतालिस मील दूर था। यह ऊँचे पेड़ों से ढके इलाके, ढलुआ पहाड़ियों, घास के मैदानों और समुद्र की अनदेखी करती तीखी पहाड़ियाँ और बीहड़ समुद्री किनारों वाला क्षेत्र, जिसमें कई रेतीले तट भी शामिल हैं। यह होटल ड्रेक की खाड़ी के करीब है, जिसको 1579 में वहाँ उतरने वाले सर फ्रांसिस ड्रेक के नाम से बनाया गया है। जो किनारे सीधे प्रशान्त महासागर के सामने हैं वहाँ तेज हवाएँ आती हैं और अमूमन वहाँ नमी और कोहरा होता है, लेकिन ड्रेक ने देखा कि वह खाड़ी बेहद भयंकर हवाओं और मौसम से सुरक्षित है और इसीलिए वह अपने जहाज गोल्डन हिन्द की मरम्मत करने के लिए उतरा। वहाँ प्वाइन्ट रेस के मूल निवासी मिवोक इन्डियन थे जो अन्न संग्रहकर्ता और शिकारी थे और शानदार प्रकृति की प्रचूरता वाली धरती पर शान्तिपूर्वक रहते थे। पर्यटक केन्द्र के पास स्वयंसेवकों ने एक आदर्श मिवोक गाँव बनाया है। उस स्थल पर एक निशान है जिस पर कैथलिन स्मिथ, एक समसामायिक मिवोक ने 1993 में लिखा था--

"मेरे लोगों ने कम से कम 8000 वर्षों तक समुद्र तट पर जिन्दगी गुजारी। एक ही छोटे से इलाके में हजारों साल तक शारीरिक और आत्मिक सन्तुलन के साथ, कहीं और जाने की जरूरत महसूस किये बिना, जीने के लिए धैर्य, आदर, ज्ञान और दुनिया में अपनी जगह की गारण्टी की जरूरत होती है।"

एक बार जब यूरोपीय यहाँ आ गये तो मिवोक ने जल्दी ही दुनिया में अपनी जगह गवाँ दी। स्पेनी मिशनरियों ने उन्हें अपनी परम्परागत रहन-सहन छोड़कर खेत-मजदूर होने के लिए मजबूर किया। बीमारी और चरम सांस्कृतिक आघात ने उनमें से कई लोगों की जान ले ली। जब मैक्सिको को आजादी मिल गयी तो मिवोक लोगों को जहाँ भी काम मिला, वे वहीं चले गये, अक्सर मैक्सिको के कुलीन, धनी "कैलिफोर्नियास" के घरेलू नौकर के रूप में, जिनके परिवारों को स्पेन के राजा से जमीन का अनुदान मिला था। बाद में अमरीका ने कैलिफोर्निया को मैक्सिको से ले लिया और कुछ ही वर्षों में सोने की हवस ने मिवोक लोगों (और कई दूसरे इण्डियन समूहों को) लगभग विलुप्त कर दिया, क्योंकि सोना चाहने वालों ने उन्हें मार डाला और जो कुछ उनके पास बचा था वह लूट लिया। मिवोक लोगों का "हम" यूरोपीय लोगों के "मैं" से बिलकुल मेल नहीं खाता था।

होटल में ठहरने के बाद हमने रसोई में अपना खाना बनाने की तैयारी शुरू की। एक महिला ने हमसे पूछा कि केतली में जो चाय का पानी उबल रहा है क्या हमारा है। मैंने कहा कि चाय का पानी सबका है। उसने कहा, "बढ़िया, मैं केतली में दुबारा पानी गर्म करके ऊर्जा बबार्द नहीं करना चाहती।" मैंने इस अनोखी बात पर टिप्पणी की कि एक ऐसे प्रान्त में जो बर्बादी के लिए जाना जाता है वहाँ लोग थोड़ी सी ऊर्जा बचाने के लिए इतना चिन्तित हैं। वह परेशान लग रही थी तो मैंने कहा कि खेती बर्बादी का एक अच्छा उदाहरण है। उसने कहा कि कैलिफोर्निया में दुनिया की सबसे ज्यादा उत्पादनशील खेती होती है। इस बात ने मुझे बाँधों, चुराया हुआ पानी, सरकारी सहायता से प्राप्त जमीन, कीटनाशकों का भारी मात्रा में उपयोग, प्रदूषित हवा और पानी तथा शोषित खेत मजदूरों पर एक भाषण के लिए उकसाया। अगर ऊर्जा लागत और ऊर्जा पैदावार के मामले में हिसाब लगाया जाये या कैलिफोर्निया के "खेतों में फैक्ट्री" द्वारा समाज पर थोपे गये खर्च के लिहाज से

देखा जाये तो इस प्रान्त की खेती उतनी भी उत्पादनशील नहीं है जितनी मिवोक लोगों का अन्न संग्रह और शिकार हुआ करता था। वह भौचक्की दिखी और तुरन्त बगल के कमरे में चाय पीने चली गयी। कुछ मिनट बाद मैंने भाषण पिलाने की क्षतिपूर्ति करनी चाही। मैंने उससे पूछा कि वह कहाँ की रहनेवाली है-- इथरका, न्यूयार्क, लेकिन अब वह न्यूयार्क सिटी में रहती है। कोलम्बिया के लॉ स्कूल में प्रथम वर्ष। मैंने उससे स्कूल के बारे में पूछा और उसको बताया कि पिट्सबर्ग स्कूल ऑफ लॉ के एक प्रोफेसर ने प्रथम वर्ष के छात्रों के बारे में क्या कहा था। उसने कहा था कि लॉ स्कूल का प्रथम वर्ष बहुत भयावह था क्योंकि वकीलों को क्रूरतापूर्ण व्यवहार के जरिये क्रूर होना सीखना पड़ता है, ठीक वैसे ही जैसे यातना देने वालों को यातना देकर यातना देना सिखाया जाता है। उसने कहा, अच्छा, यह जानना ठीक है कि हर कक्षा को एक ही जैसे व्यवहार से गुजरना पड़ता है, जिसमें वह भी शामिल है जो उसकी कक्षा के बाद आयेगा।

उस महिला ने दुबारा हमसे कभी बात नहीं की। अगले दो दिन उस पर गौर करने पर हमें उसकी आत्म केन्द्रीयता आश्चर्यजनक लगी। उसने महिलाओं की डोरमेट्री में बहुत ज्यादा जगह घेर रखी थी, जहाँ उसने बाथरूम में सभी लोगों की जगह पर अपने कपड़े और यहाँ तक कि हाइकिंग बूट के भीतरी हिस्से को भी फैला रखा था। उसने किचेन में कीचड़ फैला दिया था और दूसरों की जरूरतों से बेखबर थी। उस शाम वह एक जर्मन आदमी से इश्क लड़ा रही थी और हम लोग अचरज से सुन रहे थे। वह आदमी उससे पूरे अमरीका में अपनी यात्रा के बारे में बता रहा था। वह उसकी बातों को सुनती रही और बीच-बीच में अपने बारे में राय देने का इन्तजार करती रही। उसने पूछा कि क्या वह कभी अमरीका और यूरोप से बाहर भी गया है। क्या तुम चीन गये हो? उसने कहा नहीं, और उसने जवाब दिया कि वह सिर्फ पाँच हफ्ते के लिए बीजिंग गयी है। जब उसने नहीं पूछा कि वह किसलिए बीजिंग गयी थी तो उसने बड़ी चालाकी से बातचीत को अपने मनचाहे नतीजे की ओर आगे बढ़ाया। उसने बताया कि वह ओलम्पिक के लिए चीन गयी थी। जर्मन ने कोई ऐसी बात कही जिससे लगा कि वह ओलम्पिक देखने गयी होगी। उसने यह कहते हुए उसका सन्देह दूर किया कि वह पहली बार बिना मेडल के वापस आयी। "मेडल?" उसने पूछा कि "तुमने मेडल जीता है?" उसने कहा "हाँ, गोल्ड।" अब वह जो चाहती थी, उसने पा लिया-- उस आदमी की भरपूर प्रशंसा। यहाँ से बातचीत का स्तर उसने और उसके परिवार ने जो भी महत्त्वपूर्ण काम किये थे उनका बखान करने तक गिर गया। उसने कहा कि किसी पार्टी में या दोस्तों की महफिल में जब कोई मेडल पकड़े हुए उसका फोटो खींचता है तो उसे बहुत अच्छा लगता है। उसने कहा कि जब वह विकीपिडिया में दर्ज की गयी तो उसने समझा कि वह "कामयाब" हुई। उसके शानदार व्यक्तित्व पर बस एक ही दाग है कि जिस लॉ स्कूल में वह पढ़ना चाहती थी-- स्टानफोर्ड, उसने किसी तरह उसको नामंजूर कर दिया। उसे कोलम्बिया पर ही सन्तोष करना पड़ा, जहाँ निस्सन्देह वह "हम" से हमेशा के लिए कट जायेगी तथा दृढ़ता और स्थायी रूप से "मैं" में अकड़ जायेगी।

पूँजीवाद पूरी तरह एक व्यक्तिवादी व्यवस्था है। पूँजीवाद के अपने पुनर्उत्पादन के लिए, अपने अनुमान के मुताबिक नतीजों के लिए, लोगों का आत्म-स्वार्थी व्यवहार जरूरी है। मुख्यधारा के अर्थशास्त्री यह मानकर चलते हैं कि हर सामाजिक किरदार किसी न किसी चीज को अधिकतम बनाने वाला होता है-- मुनाफा या उपभोग के जरिये अपनी निजी सन्तुष्टि और श्रम की आपूर्ति करना। यही नजरिया वे विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले अर्थशास्त्र की लगभग हर कक्षा में लाखों छात्रों तक पहुँचाते हैं। इस बात के भरपूर प्रमाण हैं कि अर्थशास्त्र के प्रोफेसर और छात्र दोनों ही उन दूसरे लोगों से बहुत कम दयालु होते हैं जो न तो अर्थशास्त्र पढ़ाते हैं और न ही पढ़ते हैं। पूँजीवादी समाज की प्राथमिक संस्थाएँ आपस में तालमेल करके हर व्यक्ति के मन में "मैं" को बैठाने का काम करती हैं, इस उपसिद्धान्त के साथ कि "हम" मानव कल्याण के लिए हानिकारक होता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हम आत्मकेन्द्रित कार्रवाई क्यों करते हैं; इच्छा या भय प्रभुत्वशाली वर्ग की जरूरतों के मामले में बराबर फायदा पहुँचाते हैं, पूँजी का संचय अनिवार्य होता है।

पूँजीवाद को खत्म करने के लिए "मैं" को दबाना और "हम" को आगे लाना जरूरी है। अन्न संग्रहकर्ताओं और शिकारियों को यह एक अजूबा लगता जिन्होंने मानव अस्तित्व की सम्पूर्णता के लिए धरती को आबाद किया था। उनके यहाँ "मैं" के लिए कोई शब्द नहीं था और वे अपने आप और अपने इर्दगिर्द के प्राकृतिक जगत के बीच कोई अन्तर नहीं पाते थे। उनका जीवन सहकार और साझेदारी पर टिका था तथा इन्हें बरकरार रखने में उनकी रीति-रिवाज और संस्थाएँ मददगार थीं। उनके लिए धरती सामुदायिक थी, सबकी सम्पत्ति थी। वे अपना अस्तित्व प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण तरीके से कायम रखते थे और अपने जीवन के साथ धरती के चय-अपचय को सन्तुलित रखते थे।

अन्न संग्रहकर्ता और शिकारी आज भी हैं लेकिन बहुत ही कम संख्या में। उन्हें उनके एकान्त गढ़ से खदेड़ दिया गया और आधुनिक दुनिया में धकेल दिया गया। कुछ उसके अनुसार ढल गये; कई मर गये। लेकिन सामुदायिकता का यथार्थ और विचार जिन्दा रहा और "हम" अमूमन "मैं" से ताकतवर था। इतिहासकार पीटर लाइनबॉग हमें बताते हैं--

"शायद ही कोई ऐसा समाज धरती की सतह पर मौजूद रहा हो जिसके दिल में सामूहिकता की भावना न रही हो; व्यक्तिवाद और निजीकरण के साथ-साथ उपभोक्ता माल भी पूरी तरह समुदाय के हाशिये तक सीमित था जहाँ कड़ा नियंत्रण उसका उल्लंघन करने

वाले को सजा देता था।" जब पूँजीवादी फैक्ट्री और मशीनरी ने मजदूरों को चहार दीवारी के अन्दर बन्द कर दिया और उनके काम की रफ्तार एक प्रक्रिया से तय की जाने लगी, उससे पहले, जमीन को निजी सम्पत्ति बना दिये जाने से पहले, मानव जीवन के ऊपर समतामूलक, आपसी साझेदारी का सम्बन्ध काफी प्रभावी था। दुनिया में हर जगह जलावन की लकड़ी चुनने से लेकर फसल कटाई के बाद उसे बटोरने तक, हर चीज के लिए किसानों को सामुदायिक जमीन के उपयोग करने का परम्परागत अधिकार था। किसान समय-समय पर जमीन का पुनर्बंटवारा करते थे ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि हर परिवार को मोटा-मोटी बराबर फसल योग्य जमीन मिले। 1688 तक इंग्लैण्ड और वेल्स के कुल रकबे का एक चौथाई हिस्सा सामुदायिक जमीन थी। यहाँ तक कि शुरूआती पूँजीवादी कार्यस्थल में भी कुशल मजदूरों को बचा हुआ कच्चा माल अपने पास रखने का अधिकार था। जहाज बनाने के कारखाने में काम करने वालों को लकड़ी का छीलन ले जाने का अधिकार था। जिन गुलामों के श्रम ने अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में पूँजी संचय को बहुत ही तेज करना सम्भव बनाया था उनके अन्दर अफ्रीका में अपनी सामुदायिकता का, उस "हम" का जो उनकी जिन्दगी पर हावी था, उसकी यादें शेष थीं। निश्चय ही, यही वह चीज थी जिसने उन्हें अपने "मालिकों" के खिलाफ सामूहिक विद्रोह के लिए प्रेरित किया था। यह धारणा कि धरती सबकी है, धर्म का एक मुख्य विषय था। "द फ्रान्सिसकान्स से जुरी डिबिनो ओमनी सन्ट कॉमूनिया, यानी पवित्र नियम के अनुसार सभी चीजें सामुदायिक हैं।"

पूँजीवाद के केन्द्र में शोषण और सम्पत्तिहरण का ऐतिहासिक अर्थ था एक युद्ध, जो कानून और हिंसा के जरिये सामूहिक मालिकाने और समूह के पारम्परिक अधिकारों के खिलाफ छेड़ा गया था। "मैं" कभी स्वाभाविक नहीं था इसलिए इसे थोपा जाना था। अगर मजदूर वर्ग को दुनिया में बुनियादी बदलाव लाना है तो "हम" के लिए "मैं" के खिलाफ अपनी लड़ाई छेड़ना जरूरी होगा, अतीत के संघर्षों से सीखते हुए और समय के अनुरूप संघर्ष खड़ा करते हुए।

दुनिया को रूपान्तरित करने के लिए सबसे पहले उस दुनिया के बारे में एक आम समझ कायम-करना जरूरी है जिसमें हम निवास करना चाहते हैं और दूसरा, हमें यह जानने की जरूरत है कि उस जगह को अस्तित्व में कैसे लाया जाये। हम यह कहते हुए शुरू कर सकते हैं कि अगर पूँजीवाद ही उन तमाम दुख-तकलीफ का कारण है जिसका सामना आज मजदूर वर्ग और उसके कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाले किसान कर रहे हैं, तब पूँजीवादी समाज का विलोम ही हमारी अभिलाषा है।

(माइकल डी येट्स की किताब "कैन द वर्किंग क्लास चेंज द वर्ल्ड" का हिन्दी अनुवाद "क्या मजदूर वर्ग दुनिया को बदल सकता है" का एक अंश। यह किताब गार्गी प्रकाशन से शीघ्र प्रकाशित होने वाली है।)

अनुवाद-- दिगम्बर

पाठकों से अपील

❑ 'देश-विदेश' अंक 30 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाये।

❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाये या नहीं।

❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 30 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तरित करें और इसकी सूचना एसएमएस या ईमेल से भेज दें।

नाम : अतुल कुमार गुप्ता
मोबाइल नं. 9810104481
S.B. AC : 601510100024041
IFSC : BKID 0006015
बैंक ऑफ इंडिया,
जीटी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32

मनी ऑर्डर भेजने का पता है-

अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली न. 4,
न्यू मॉर्डन शाहदरा
दिल्ली- 110032